प्रकाशक—
साहित्यरत्न पं० दरबारीलाल न्यायतीर्थ,
सत्य-समाज ग्रन्थमाला, जुबिलीबाग,
तारदेव, बम्बई

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिन्टींग प्रेस,
६, केळेवाडी, गिरगाँव, बम्बई

प्रस्तावना

यह पुस्तिका एक पुस्तककी भूमिका मात्र है। अधूरी भी है और पूरी भी। अधूरी इसलिये कि धर्म-मीमांसा नामक पुस्तकका यह एक भाग है और पूरी इसलिये कि धर्म-मीमांसाकी कसौटीका इसने पूरा वर्णन किया है और उसे जीवनमें उतारनेके लिये जिस 'सत्य-समाज' की सृष्टि हुई है उसका दर्शन यह पूरा-सा ही करा देती है। यों तो पूर्णता भी एक सापेक्ष शब्द है, इसलिये एकके लिये जो पूर्ण है दूसरेके लिए अपूर्ण है। 'पूर्ण-पूर्णता' यह प्रयोग भाषाकी दृष्टिसे ही अटपटा-सा है और भावकी दृष्टिसे तो असंभवमें प्रविष्ट हो गया है। खैर। यहाँ मैंने इसलिए इसे पूरा कहा है कि इसके पढ़ लेनेपर पाठकोंको अधूरेपनका कष्ट न होगा।

मैंने 'जैन-जगत्' पत्रमें—जो कि अब 'सत्य-संदेश' हो गया है—'जैन धर्मका मर्म' शीर्षक एक लेखमाला करीब साढ़े तीन वर्ष तक लिखी थी। मैं लिखने बैठा 'मर्म' और लिख गया 'मीमांसा'। शब्द डाला 'जैन-धर्म' पर रह गया 'धर्म'। उसमें किसीकी निन्दा नहीं थी, फिर भी तहलका मच गया। जैनधर्मका मर्म होनेपर भी वह जैनियोंकी ही चीज़ न रही। उसमें न निंदा थी न स्तुति, निष्पक्ष आलोचना थी। सम-भाव और विवेकका यथाशक्ति पूरा उपयोग किया गया था। लेखमाला लिखते लिखते यह बात भी स्पष्ट हो गई कि इस प्रकारकी आलोचना तो प्रत्येक धर्मकी की जा सकती है, और उसके होनेपर तो धर्मोंमें कोई भेद नहीं रह जायगा। मनुष्य-जातिमें धर्म और जातिके जो भेद हैं उनमें निरर्थकता और दुरर्थकताका अंश बहुत ज़्यादः हो गया है। इन सब विचारोंका फल हुआ 'सत्य-समाज' की स्थापना।

एक दिन बैठा। नियमावली गढ़ डाली। स्थापना हो गई। निन्दाकी गर्जना और प्रशंसाके गीत सुनाई पड़ने लगे। उपेक्षा और व्यङ्गयकी मार भी पड़ी। मैंने सिर्फ शंकाओंका समाधान किया और बाकीके लिये किया भविष्यकी तरफ

इशारा। बहुतोंको यह योजना रुचिकर मालूम हुई। सदस्य बनने लगे। पूना, बार्शी (सोलापुर), कोटा, बारां (कोटा), भेलसा, बलुंदा, (मारवाड़) एटा, कानपुर, जालना (निज़ाम), आदि स्थानोंपर ग्राम-शाखाएँ खुलीं। कहीं प्रकीर्णक सदस्य रहे। शाखाएँ और भी खुलती जाती हैं। इसप्रकार यह योजना धीरे धीरे आगे बढ़ रही है।

इस प्रयत्नमें एक माँग चारों तरफसे आई कि 'सत्य-समाज'को समझनेके लिए उसकी नियमावली ही पर्याप्त नहीं है, कुछ और चाहिये। इस ' कुछ और ' के लिए यह पुस्तक दी जा रही है। परन्तु यह 'सत्य-समाज'की नियमावली या उसका भाष्य ही नहीं है, प्रारम्भका आधेसे अधिक भाग धर्म-तत्त्वकी मीमांसा है। मैं यह नहीं चाहता कि धर्म परलोक और ईश्वरके नामपर ही जीवित रहे, उसके लिए अनिर्वचनीय अज्ञेय तत्त्वोंकी और श्रद्धाकी दुहाई दी जाती रहे। जिस प्रकार प्राणियोंके लिए हवा-पानी आवश्यक हैं, उसीप्रकार धर्म भी आवश्यक है। अथवा इसे यों कहना चाहिये कि जो हवा-पानीकी तरह हमें आवश्यक है, वही धर्म है। धर्मके नामपर जो सम्प्रदाय चल रहे हैं उन्हें हम उतने ही अंशमें धर्म कह सकते हैं जितना कि उनमें यह तत्त्व पाया जाता है।

जब धर्म, हवा पानीकी तरह आवश्यक है तब वह बुद्धिका विषय भी है। बुद्धिके बाहर अगर कोई तत्त्व है तो रहे, परन्तु हम उसकी दुहाई नहीं दे सकते। दुहाई देते हैं तो उसे बुद्धिके भीतर कर लेते हैं। वह बाहर हो या भीतर, परन्तु हमें उसके नामपर निश्चेष्ट नहीं होना होगा। जब हमारे सामने विविध दुःख हैं, उनका हमें उपाय करना है, केवल ' मा गा ' कहकर नहीं उड़ाना है, तब हमें उसका बुद्धि-संगत उपाय ही ढूँढ़ना होगा।

आध्यात्मिकता आवश्यक है। उसके बिना आधिभौतिक व्याख्या निष्प्राण है। परन्तु आधिभौतिकताके बिना तो आध्यात्मिकता भी ' ऐसा ही कुछ ' है। दोनोंका समन्वय ही जीवन है। धर्म-जीवनकी यहाँ ऐसी ही व्याख्या की गई है।

इसके दूसरे तीसरे आदि भाग भी होंगे। जिनमें कर्म-भोग या जीवन-कला, मनुष्यमात्रकी एकता, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, वाक्याचार, सामाजिक विषय, समाज-सुधार, सर्व-धर्म-समन्वय, आदि विषयोंपर व्यापक, गंभीर और कुछ मौलिक-सा विवेचन किया जायगा।

ग्रन्थ-मालाका यह पहला पुष्प है, जो कि बहुत देरीसे दे रहा हूँ। फिर भी जल्दी है और इस जल्दीका श्रेय निम्नलिखित दो उदार श्रीमानोंको है जिनकी सहायतासे यह प्रकाशन-कार्य प्रारम्भ हुआ है।

२५०) श्रीमान् सेठ सुगन्धचंदजी लुणावत, धामनगाँव (बरार)

२५०) श्रीमान् सेठ राजमलजी ललवानी, जामनेर (खानदेश)

उपर्युक्त महानुभावोंने यह सहायता 'जैन-धर्म-मीमांसा' का प्रथम भाग छपनेको दी थी। सो वह छप रहा है। उसके प्रारम्भके सामान्य धर्मसम्बन्धी ४९ पृष्ठ इस पुस्तकमें हैं। थोड़ासा भाग और मिलाकर यह पुस्तिका तैयार हो गई है।

इस पुस्तकके प्रूफ-संशोधन आदि प्रकाशन-कार्यमें श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीसे पूरी सहायता मिली है। वे मेरे इतने आत्मीय हैं कि उन्हें धन्यवाद देकर मैं अनात्मीयता प्रकट नहीं कर सकता।

—दरबारीलाल

अनुरोध

क्या आप समझते हैं कि मनुष्य-जाति धर्म, जाति, देश, प्रदेश आदिके नामपर लड़ती रहे तो उसका कल्याण हो जायगा ? यदि नहीं, तो आप इन बन्धनोंको तोड़नेके लिए इस द्वन्द्वको शान्त करनेके लिए सत्य-समाजके सदस्य क्यों नहीं हो जाते ?

आपकी विशेषता कोई नहीं छीनता। आप हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध आदि कोई भी रहिये और बने रहिये, परन्तु यह ख्याल रखिये कि इन विशेषताओंके भीतर भी एक समानता है जिसके आधारपर हमारा मनुष्यत्व टिका हुआ है। उस समानताको—ब्रह्मको—हम भूले हैं, क्या आप उसे याद करना चाहते हैं ? उसे जीवनमें उतारना चाहते हैं ? उसे मूर्तिमान करना चाहते हैं ? तो सत्य-समाजके सदस्य क्यों नहीं बन जाते ?

जातिके नामपर फैली हुई ये हजारों टुकड़ियाँ—जिनने खान-पान और विवाह-सम्बन्धी न्याय्य स्वतन्त्रताको छीनकर मनुष्यताका गला घोंटा है—ये पंचायतें—जो कि समाज-सुधारके प्रत्येक कार्यमें आड़े आती हैं और पतनके मार्गमें धक्का देकर आगे बढ़ाती हैं, यह वातावरण जो कि श्वासके रूपमें भीतर जाकर आपके उत्साहको नपुंसक बनाये रहता है और आपको असहायताके दुःस्वप्न दिखलाता रहता है, इन सबका क्या आप सामना करना चाहते हैं ? क्या इनपर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, तो आप इस कार्यमें दूसरोंके सहयोगी बनिये। हजारों सहयोगियों ढूँढ़िये। इसके लिए सत्य-समाजके सदस्य बन जाना सबसे सरल मार्ग है। इस पुस्तकको पढ़िये, विचारिये, पूछिये, फिर सन्तुष्ट होकर उत्साहके साथ मैदानमें आइये।

—दरबारीलाल

सत्य-समाजका प्रवेश-पत्र

ता०

सेवामें—

संस्थापक " सत्यसमाज "

महोदय,

मैंने सत्य-समाजके उद्देश नियम आदि पढ़ लिये हैं। मेरे ख्यालमें सर्व-धर्म-समभाव, सर्व-जाति-समभाव और पूर्ण समाज-सुधारकता, मनुष्यकी उन्नति और शान्तिके लिये अत्यावश्यक हैं। सर्व-धर्म-सम-भावके प्रदर्शनमें भाग लेना, जाति-पाँतिके नामपर फैली हुई संकुचित-ताका विरोध करना, समाज-सुधारके प्रत्येक कार्य—अन्तर्जातीय विवाह, सहभोज, विधवा-विवाह आदि—में सहयोग करना, रूढियों शास्त्रकी दुहाई देकर किसी कार्यका विरोध न करना, दूसरोंकी सामाजिक स्वतन्त्रतामें बाधा न डालना, आदि सब शर्तें मुझे मंजूर हैं। इनके लिये आप मुझे प्रतिज्ञाबद्ध समझिये और मेरा नाम सदस्यों की श्रेणीमें लिखिये।

हस्ताक्षर ———————— उम्र ————

पिता या पतिका नाम ————————

आजीविका ———————— विवाहित आदि ————

वर्तमान जाति ———————— वर्तमान सम्प्रदाय[1] ————

कुटुम्बियोंका परिचय ————————

————————————————

सदस्यताकी शाखा ————————

पूरा पता ————————

————————————————

१ नैष्ठिक या पाक्षिकमें वैदिक, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि।

अनुमोदन पत्र

सेवामें—

संस्थापक "सत्यसमाज"

महोदय,

मैंने सत्यसमाजके उद्देश और नियम पढ़ लिये हैं। इस प्रकारके सम्प्रदायातीत निष्पक्ष समाजकी आवश्यकता है। सदस्यताकी जो आपकी शर्तें हैं वे मुझे मंजूर हैं। परन्तु उन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेमें मेरे सामने कुछ कठिनाइयाँ हैं, इसलिये मैं अभी सदस्य तो नहीं वन सकता किन्तु अनुमोदक श्रेणीमें आप मेरा नाम लिख लीजिये। सत्य-समाजके कार्योंमें यथाशक्ति भाग लेनेकी और सहायता देनेकी मैं कोशिश करता रहूँगा।

पूरा पता————————————————

सत्यं शिवं सुन्दरम्

धर्म-मीमांसा

प्रथम अध्याय

धर्मका स्वरूप

विविधताका रहस्य

धर्म क्या है ? धर्म-संस्था जगतमें क्यों आई ? धर्मोमें परस्पर भिन्नता क्यों है ? इत्यादि अनेक प्रश्न प्रत्येक विचारशील हृदयमें उठा करते हैं। और जब वह यह देखता है कि धर्मसरीखी पवित्र वस्तुके नामपर खूनकी नदियाँ बही हैं, मनुष्यकी और मनुष्यताकी दिन-दहाड़े हत्या हुई है, तब उसका हृदय संतापसे जलने लगता है और कभी कभी उसे धर्मसे घृणा हो जाती है। परन्तु हम धर्मसे घृणा करें, इसीसे धर्म नष्ट न हो जायगा। अगर हम अपने समयकी धर्म-संस्थाओंको नाश करनेका प्रयत्न करें, तो हमारा यह प्रयत्न करीब करीब असफल ही होगा। धर्म किसी न किसी रूपमें जीवित ही रहेगा। मनुष्यके पास जब तक हृदय है और उसमें

अच्छी और बुरी वृत्तियाँ हैं तब तक उसे धर्मकी आवश्यकता रहेगी। इसलिये हमारा काम यही होना चाहिये कि धर्मका संशोधन करें। इसके लिये हमें धर्मका मूलस्वरूप ढूँढ़कर, जगत्‌में धर्म क्यों पैदा होते हैं इस बातको समझकर, सब धर्मोंका समन्वय करते हुए धर्मकी मीमांसा करनी चाहिये।

प्रत्येक धर्म इसी बातकी दुहाई देता है कि मैं सबको दुःखोंसे छुड़ाऊँगा। इससे मालूम होता है कि दुःखोंको दूर करनेका जो मार्ग है उसे ही धर्म कहते हैं। यह तत्त्व जिसमें जितना अधिक पाया जायगा वह धर्म उतना ही अच्छा होगा। परन्तु इस तत्त्वका कोई ऐसा एक रूप नहीं है जो सब समय और सब जगहके सब व्यक्तियोंके लिये कल्याणकारी कहा जा सके। इसलिये कोई भी धर्म सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे उपयुक्त नहीं हो सकता। अगर उसको उपयुक्त बनाये रखना है, तो समय समयपर उसकी मीमांसा करते हुए उसमें ऐसा परिवर्तन करते रहना चाहिये जिससे धर्म-संस्थाका मूल उद्देश्य सिद्ध हो।

अगर हम प्रत्येक धर्मकी, उदारता और विनयके साथ मीमांसा करें और उसमें समयानुसार परिवर्तन कर लें, तो हमें आश्चर्यपूर्वक स्वीकार करना पड़ेगा कि दुनियाके सभी धर्म एक दूसरेसे बिलकुल मिले हुए हैं। इतना ही नहीं बल्कि जिन्हें हम भिन्न भिन्न धर्म समझते हैं, वे एक ही धर्मके जुदे जुदे पहलू हैं। धर्मके भीतर जो अविश्वसनीय तत्त्व आ गये हैं वे भोले लोगोंको समझानेके लिये रक्खे गये हैं, धर्मके मर्मका उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उन बातोंमें परिवर्तन करनेसे धर्मकी कुछ भी क्षति नहीं होगी।

जिस प्रकार वर्षाका शुद्ध जल दो तरहका नहीं होता, किन्तु पात्रोंके भेदसे उसमें भेद हो जाता है, उसीप्रकार धर्म दो तरह-का नहीं होता; किन्तु पात्रोंके भेदसे या, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके भेदसे उसमें भेद होता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका भेद, विरोधका कारण नहीं होता; इतना ही नहीं बल्कि इस प्रकारकी द्विविधताको हम दो धर्म भी नहीं कह सकते। वे एक ही धर्मके अनेक रूप हैं। दुनियामें अनेक धर्म हैं वैदिक,—जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि। परन्तु जिस प्रकार इन धर्मोंके सम्प्रदाय हैं, उस प्रकार अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, अक्रोधधर्म, विनयधर्म आदिके सम्प्रदाय नहीं हैं। मैं जैन हूँ, तू बौद्ध है, इस प्रकारके धर्माभिमानसे लोग लड़े हैं; परन्तु मैं अहिंसाधर्मा हूँ, तू सत्यधर्मी है, इस प्रकारके धर्माभिमानसे कोई नहीं लड़ा। हर एक धर्म अपनेको न्यूनाधिक रूपमें अहिंसा, सत्य आदिका पोषक कहता है। इससे मालूम होता है कि अहिंसा, सत्य आदि असली धर्म हैं और इनमें विरोध नहीं है। विरोध है उसके विविध रूपोंमें अर्थात् सम्प्रदायोंमें। कहनेका तात्पर्य यह है कि धर्म सुखके लिए है और विविध सम्प्रदाय धर्मके लिए हैं। सम्प्रदाय स्वयं परिपूर्ण धर्म नहीं हैं—वे अहिंसा आदि धर्मोंके लिए हैं। हमने धर्मके लिए उत्पन्न होनेवाले या उसके एक रूपको बतलानेवाले सम्प्रदायोंको धर्म कहा, इसलिए धर्मोंकी विविधताकी समस्या हमारे सामने खड़ी होती है।

जुदे जुदे धर्मोंमें जो हमें परस्पर विरोध मालूम होता है वह अनेकान्त, स्याद्वाद या सम-भावके न प्राप्त करनेका फल है। मैं यह नहीं कहता कि प्रत्येक धर्मका प्रत्येक सिद्धान्त वैज्ञानिक

दृष्टिसे सत्य है। मनुष्य-प्रकृतिका विचार करके हरएक धर्ममें वैज्ञानिक असत्यको स्थान मिला है। परन्तु वह असत्य भी धर्मके लिए ही लाया गया है, अधर्मके लिए नहीं। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए एक उदाहरणमाला उपस्थित करनेकी आवश्यकता होगी।

पहिले ईश्वरकर्तृत्वके विषयको लीजिए।

एक सम्प्रदाय कहता है कि जगत्कर्ता ईश्वर है; दूसरा कहता है कि जगत्कर्ता ईश्वर नहीं है। निःसन्देह इन दोनोंमेंसे कोई एक असत्य है। परन्तु इन दोनों वादोंका लक्ष्य क्या है? ईश्वर-कर्तृत्व-वादी कहता है कि अगर तुम पाप करोगे तो ईश्वर तुम्हें दण्ड देगा, नरकमें भेजेगा; अगर तुम पुण्य करोगे तो वह खुश होगा, तुम्हें सुख देगा, स्वर्गमें भेजेगा। ईश्वर-कर्तृत्वविरोधी जैन कहेगा कि अगर तुम पाप करोगे तो अशुभ कर्मोंका बन्ध होगा; खाये हुए अपथ्य भोजनके समान उसका तुम्हें दुःखमय फल मिलेगा, तुम्हें बुरी गतिमें जाना पड़ेगा। अगर तुम पुण्य करोगे तो तुम्हें शुभ कर्मोंका बन्ध होगा, खाये हुए पथ्य भोजनके समान उससे तुम्हारा हित होगा, आदि। एक धर्म लोगोंको ईश्वर-कर्तृत्ववादी बनाकर जो काम कराना चाहता है, दूसरा धर्म लोगोंको ईश्वर-कर्तृत्वका विरोधी बनाकर वही काम कराना चाहता है। यहाँ धर्ममें क्या भिन्नता है? भिन्नता उसके साधनोंमें हैं। परन्तु भिन्नता होनेसे विरोध होना चाहिये, यह नहीं कहा जा सकता। विरोध वहाँ होता है जहाँ दोनोंका उद्देश्य एक दूसरेका विघातक हो; परन्तु यहाँ दोनों-का उद्देश्य एक ही है। इसलिये हम इन्हें विरोधी धर्म नहीं कह सकते। इनमेंसे अगर हम ईश्वर-कर्तृत्ववादको वैज्ञानिक दृष्टिसे

असत्य मान लें, तो भी वह अधर्म नहीं कहा जा सकता। जो भावुक हैं उनके लिये ईश्वर-कर्तृत्ववाद अधिक उपयोगी है। वे यह सोचते हैं कि ईश्वरके भरोसे सब छोड़ देनेसे हम निश्चिन्त हो जाते हैं, हममें कर्तृत्वका अहंकार पैदा नहीं होता, पुण्य-पापका विचार रहता है। जो बुद्धिपर अधिक जोर देते हैं, वे तर्कसिद्ध न होनेसे ईश्वरको नहीं मानते। वे सोचते हैं कि ईश्वरको कर्ता न माननेसे हम स्वावलम्बी बनते हैं—हम ईश्वरको प्रसन्न करनेकी कोशिश करनेकी अपेक्षा कर्तव्यको पूर्ण करनेका प्रयत्न करते हैं, हमारे पापोंको कोई माफ़ करनेवाला नहीं है, इस विचारसे हमें पापसे भय पैदा होता है। जिस धर्मने ईश्वरको माना है, उसने भी इसीलिये माना है कि मनुष्य पाप न करे। जिसने ईश्वरको नहीं माना, उसने भी इसीलिए नहीं माना कि मनुष्य पाप न करे। दोनोंका लक्ष्य एक है और दोनों ही प्राणियोंको सुखी बनाना चाहते हैं, और एक अंशमें उन्हें सफलता भी मिली है। इतना ही नहीं, परलोकको न माननेवाले नास्तिकोंने भी परलोकको नहीं माना, उसका कारण सिर्फ़ यही था कि मनुष्य-समाज सुखी रहे। जब परलोकके नामपर एक वर्ग लूट मचाने लगा और भोले भाले लोग ठगे जाने लगे, विवेकशून्य होकर दुःख सहनेको जब लोग पुण्य समझने लगे, तब नास्तिक धर्म पैदा हुआ। इस प्रकार आस्तिकताकी सीमापर पहुँचे हुए ईश्वर-कर्तृत्ववादी और नास्तिकताकी सीमापर बैठे हुए परलोकाभाववादी, अपने अपने धर्मका प्रचार सिर्फ़ इसीलिये करते थे कि मनुष्य निष्पाप बने, एक प्राणी दूसरे प्राणीको न सतावे। यह हो सकता है कि इनमेंसे कोई धर्म कम सफल हो कोई अधिक, कोई अल्पकालिक हो

कोई चिरकालिक; परन्तु यह निश्चित है कि अपने अपने देश-काल-में सब धर्मोंने मनुष्य-समाजको सुखी बनानेकी और समाजके दुःख-मूलक विकारोंको दूर करनेकी चेष्टा की है।

अब हिंसा-अहिंसाके प्रश्नको लीजिये। जैनधर्म और बौद्धधर्ममें अहिंसापर बहुत जोर दिया गया है। परन्तु जिन धर्मोंने हिंसाका विधान किया है, वे अपने समयमें भी इतने ही अनुचित थे जितने आज हैं—यह नहीं कहा जा सकता। जिस समय यहाँ जङ्गलोंकी बहुलता थी, जङ्गली जनवरोंसे कृषिकी रक्षा असम्भव थी, उस समय-पर मनुष्य-समाजकी रक्षाके लिये हिंस्र तथा कृषिविघातक जानवरोंका यज्ञ तथा शिकार आदिसे नाश किया गया, यह अक्षन्तव्य नहीं है। यह बात दूसरी है, कि पीछेसे इस हिंसाकी आवश्यकता न होनेपर भी लोगोंने नामवरीके लिये या व्यसनके लिये ये कार्य किये। आज हज़ारों वर्षसे यहाँ कृषि-कार्य हो रहा है, इसलिये उस समयके कष्ट-की हम कल्पना भी नहीं कर सकते जब लोगोंको कृषि-रक्षाके लिये या आत्म-रक्षाके लिये इस प्रकार हिंसाके विधान करना पड़े। आज यह हिंसा-विधान कई हज़ार वर्षोंसे अनावश्यक है, इसलिये वर्तमानकालकी दृष्टिसे हमें हक है कि हम उसे अनुचित कहें; और अनुचित और पापमें तो सिर्फ़ शब्द-मात्रका अन्तर है।

इस तरह यह हिंसाविधायक धर्म भी एक समयके लिए आवश्यक था। किन्तु हमारा सबसे बड़ा पाप तो यह है कि एक समयके लिए जो आवश्यक था वह सब समयके लिए आवश्यक मान लेते हैं। जिस समय कृषि-कार्य अच्छी तरहसे चलने लगा, जंगली पशु भी पालतू पशु हो गये, यहाँ तक कि हम उनका दूध तक पीने लगे, इस तरह वे हमारे सहयोगी होकर नागरिक बन गये, उस समय-

पर उन मित्रोंकी हत्या करना क्या उचित था ? जब हम उनकी हिंसा किये बिना जीवित रह सकते थे, तब क्या हमें उनकी रक्षा न करना चाहिये थी ? क्या यह तामसिकता हमारे अधःपतनका कारण न थी ? यही सोचकर महात्मा महावीर और महात्मा बुद्धने हिंसाके विरुद्ध क्रान्ति की। एक समय जो उचित था या क्षन्तव्य था, दूसरे समयमें वही अनुचित था, पाप था, इसलिये उसके दूर करनेके लिए जो क्रान्ति हुई वह धर्म कहलाई।

हिंसा-अहिंसाके प्रश्नके साथ गो-वधके प्रश्नको ले लीजिये। निःसन्देह किसी भी निरपराध प्राणीकी हत्या करना बड़ा भारी पाप है और हिन्दुस्थानमें गोवध करना तो बड़ेसे बड़ा पाप है। परन्तु मुसलमान धर्म जब और जहाँ पैदा हुआ वहाँकी दृष्टिसे हमें विचार करना चाहिए। महात्मा मुहम्मदके ज़मानेमें अरबकी बड़ी दुर्दशा थी। मूर्तियोंके नामपर वहाँ मनुष्य-वध तक होता था। इसको दूर करनेके लिए उनने मूर्तियोंको हटा दिया। "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी"—न मूर्त्तियाँ होंगी, न उनके नामपर बलि होगा। परन्तु इतनी विशाल क्रान्ति, लोग सह नहीं सकते थे। पात्रताके अनुसार ही सुधार होता है। इसलिए मनुष्य-बलि बन्द हुई और गो-वध आया। हिन्दुस्तानमें गो-वंश कृषिका एक मात्र सहायक होनेसे यहाँ उसका मूल्य अधिक है। इसीलिए गो-माता सरीखे शब्दकी उत्पत्ति यहाँ हुई है। परन्तु अरबमें कृषिके लिए गो-वंशकी आवश्यकता नहीं है—वहाँ ऊँटोंसे खेती होती है। यदि बलि आदिको रोकनेके लिए मुहम्मद साहबने मूर्त्तियाँ हटा दीं, मनुष्य-वध रोकनेके लिए गो-वधका विधान किया, तो 'सर्वनाश उपस्थित होनेपर आधेका

त्याग कर देना चाहिये* ' इस नीतिके अनुसार उस कालको देखते हुए यह अनुचित कहा नहीं जा सकता। जैनशास्त्रोंमें एक कथा प्रचलित है कि मुनिके उपदेश देनेपर भी जब एक भील किसी तरहका मांस छोड़नेको राज़ी न हुआ, तो उन्होंने उससे काक-मांसका ही त्याग कराया। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य मांसोंका विधान कराया गया; सिर्फ़ शक्यानुष्ठानकी दृष्टिसे यह बात भी उचित समझी गई। इस दृष्टिसे मुहम्मद साहबके समयमें अरबकी स्थितिपर विचार करके इस्लामकी आलोचना करना चाहिये। परन्तु, भूल है उनकी, जो मुहम्मद साहबके अनुयायी होकरके भी मुहम्मद साहबकी दृष्टिपर विचार नहीं करना चाहते। शोधा हुआ संखिया असाधारण बीमारीमें दवाईका काम करता है; परन्तु बीमारीकी परिस्थिति हट जानेपर उसे कोई अपना भोजन बना ले, तो बीमार हो जायगा। ऐसी हालतमें हम उस वैद्यको बुरा न कहेंगे जिसने बीमारीके अवसरपर संखिया खिलाया; बुरा कहेंगे हम उन्हें, जिनने बीमारीके हट जानेपर भी संखियाको सदाके लिए भोजन बना लिया। मुहम्मद साहबके अनुयायी, जो कि भारतवर्षमें रहते हैं, अगर मुहम्मद साहबकी दृष्टिसे काम लें तो वे कभी गो-वधका विधान न करें। मनुष्य-वधके युगमें पशु-वधका विधान क्षन्तव्य कहा जा सकता है; परन्तु जिस देशमें वनस्पतिके स्पर्शमें भी घोर हिंसा माननेवाले हों उस देशमें पशु-वधके विधानकी क्या आवश्यकता है? वहाँ तो यह पाप है। अगर हम इस बातको समझें,

---

* सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः।

तो इस्लामियोंके वर्तमान कार्योंको अनुचित समझते हुए भी इस्लामको सहन कर सकेंगे।

अब मैं वैदिक धर्मकी एक बात लेता हूँ। वैदिक धर्मकी वर्णाश्रम-व्यवस्था जैनधर्मको मान्य नहीं है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं कि वैदिकधर्मका पक्ष असत्य है या जैनधर्मका पक्ष असत्य है। वैदिक-धर्मकी वर्णाश्रम-व्यवस्थाको समझनेके लिये हमें अपनी दृष्टि कई हज़ार वर्ष पहले ले जाना चाहिये। हम देखते हैं कि उस समय आर्योंको कृषि और सेवाके लिये आदमी नहीं मिलते—सभी आदमी अयोग्य रहते हुए भी पंडिताई या सैनिक जीवन बिताना चाहते हैं। आवश्यक क्षेत्रमें आदमी नहीं मिलते; अनावश्यक क्षेत्रमें इतने आदमी भर गये हैं कि बेकारी फैल गई है। हरएक आदमी महीनेमें तीस बार अपनी आजीविका बदलता है। वह किसी भी काममें अनुभव प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसी हालतमें वर्ण-व्यवस्थाकी योजना होती है। इससे अनुचित प्रतियोगिता बन्द होकर आजीविका-के क्षेत्रका यथायोग्य विभाग होता है। परन्तु इसके बाद महात्मा महावीरके ज़मानेमें हम देखते हैं कि वर्णोंने जातियोंका रूप पकड़ लिया है। पशुओंमें जैसे हाथी घोड़ा आदि जातियाँ होती हैं, उसी प्रकार आजीविकाकी सुविधाके लिये किया गया यह सुप्रबन्ध, मनुष्य-जातिके टुकड़े टुकड़े कर रहा है! पारस्परिक सहयोगके लिए की गई वर्णव्यवस्था परस्परमें असहयोग और घृणाका प्रचार कर रही है! सिर्फ़ आजीविकाके क्षेत्रके लिये किया गया यह विभाग रोटी-बेटी-व्यवहारमें भी आड़े आ रहा है! इसके कारण दुरा-चारी ब्राह्मण सदाचारी शूद्रकी पूजा नहीं करना चाहता, किन्तु

उसे पददलित करना चाहता है। तब वर्ण-व्यवस्थाका विरोध करना परम धर्म हो जाता है, क्योंकि यह व्यवस्था अब दुःखदायी हो जाती है। यही बात आश्रम-व्यवस्था की है। जब जीवनकी जिम्मेदारियों-से मुँह छुपानेवाले अपने माता-पिताको रोते छोड़कर भागने लगे, समाज अनुत्तरदायी युवा-साधुओंसे भर गया, तब आश्रम-व्यवस्थाकी आवश्यकता हुई। यह नियम बनाया गया कि हरएक आदमीको पितृ-ऋण चुकाना चाहिये, अर्थात्, माता-पिताकी सेवा करना चाहिये और जिस प्रकार माता-पिताने उसे पालन किया है, उसी प्रकार उसे अपनी संतानका पालन करना चाहिये, पीछे वानःप्रस्थ रहकर सन्यासका अभ्यास करना चाहिये; फिर सन्यास लेना चाहिये। अब आप देखें कि यह व्यवस्था संसारकी भलाईके लिये कितनी अच्छी है! परन्तु यदि राजकुमार सिद्धार्थ इसी व्यवस्थासे चिपटे रहते, तो वे महात्मा बुद्ध न बन पाते। उस समय जो महात्मा बुद्धके द्वारा समाज और धर्मका संशोधन हुआ वह न हो पाता। इसलिये महात्मा बुद्धने युवावस्थामें ही गृह-त्याग किया। यह भी संसारके कल्याणके लिये बहुत अच्छा हुआ। परन्तु यदि अपवादोंको राज-मार्ग बना दिया जाय, तो इसी कल्याणके कारण अकल्याण भी हो सकता है। जब महात्मा बुद्धने अपने पुत्र राहुलको भी छोटी उमरमें दीक्षित कर लिया, तब उनके पिता महाराज शुद्धोदनने आकर कहा—

"भगवानके प्रव्रजित होनेपर मुझे बहुत दुःख हुआ था, वैसे ही नन्दके प्रव्रजित होनेपर भी। राहुलके प्रव्रजित होनेपर अत्यधिक। भन्ते! पुत्र-प्रेम मेरी छाल छेद रहा है, छाल छेदकर चमड़ेको छेद

रहा है, चमड़ेको छेदकर मांसको छेद रहा है, मांसको छेदकर नसको छेद रहा है, नसको छेदकर हड्डीको छेद रहा है, हड्डीको छेदकर घायल कर दिया है। अच्छा हो भन्ते! आर्य, मातापिताकी अनुज्ञाके विना किसीको दीक्षित न करें।"

इसके बाद महात्मा बुद्धने भिक्षुओंको एकत्रित किया और नियम बनाते हुए कहा—

"भिक्षुओ, माता-पिताकी अनुज्ञाके विना पुत्रको दीक्षित न करना चाहिए; जो करे उसे दुक्कट (दुष्कृत) का दोष है।"

आप देखें कि दीक्षाके मार्गमें यह रुकावट कितनी अच्छी थी! महात्मा महावीरने तो यह रुकावट शुरूसे ही रक्खी। इतना ही नहीं, अपने जीवनमें ही उनने इसका पालन किया। माता-पिताकी अनुज्ञाके विना वे कई वर्ष रुके रहे। आश्रम-व्यवस्था, महात्मा बुद्धका अपवाद तथा इस विषयमें महात्मा महावीरका प्रारम्भसे और महात्मा बुद्धका राहुलको दीक्षित करनेके बादका मध्य-मार्ग, ये तीनों अपने अपने देश-कालके लिए उपयोगी रहे हैं। इसलिए इन तीनोंमें कुछ विरोध नहीं कहा जा सकता।

अब थोड़ासा विचार द्वैत और अद्वैतपर भी कीजिए। अद्वैतवादी कहता है कि सब जगत्का मूल तत्त्व एक है, द्वैत भावना करना संसारका कारण है। इस प्रकारका विचार करनेवाला मनुष्य, यह मेरा स्वार्थ; यह दूसरेका स्वार्थ, यह विचार ही नहीं ला सकता। वह तो जगत्के हितमें अपना हित समझेगा। जिस वैयक्तिक स्वार्थके पीछे लोग नाना पाप करते हैं, वह वैयक्तिक स्वार्थ उसकी दृष्टिमें न रहेगा। वह निष्पाप बनेगा। द्वैतवादी कहेगा—मूल तत्त्व दो

हैं, मैं आत्मा हूँ और मेरे साथ लगा रहनेवाला पर-तत्त्व पुद्गल जुदा है। मैं इस 'पर' के बन्धनमें पड़कर पराधीन हूँ, दुःखी हूँ, मुझे इस बन्धनको तोड़ना चाहिए। यह समझकर वह शरीरकी अपेक्षा आत्माको मुख्यता देता है, शरीरके लिए कोई पाप नहीं करता। इस तरह द्वैत-भावना उसे निर्विकार बननेको प्रोत्साहित करती है।

इस तरहके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। उन परसे हमें मालूम होगा कि धर्मको प्राप्त करनेके लिए जो सम्प्रदाय बने हैं, वे जब बने थे तब उस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार किसी उपयोगी—कल्याणकारी—तत्त्वको लेकर बने थे। तभी वे खड़े हो सके। इसलिए मैं इस बातको कहनेका साहस करता हूँ कि सम्प्रदायोंके मौलिक (असली) रूपोंका धर्मके साथ—कल्याणके साथ—कोई विरोध नहीं है।

हाँ, हर एक सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका पीछेसे दुरुपयोग होता है। परन्तु इससे हम उन सम्प्रदायोंको बुरा नहीं कह सकते। दुरुपयोग तो अच्छेसे अच्छे तत्त्वका होता है। अहिंसा सरीखे श्रेष्ठ तत्त्वका दुरुपयोग होकर कायरताका प्रचार हुआ है। दीक्षाके नामपर बालक-विक्रय या बालक-चोरी भी होती है, द्वैतके नामपर स्वार्थका ही पोषण हो सकता है, अद्वैतके नामपर सब स्त्रियोंमें अद्वैत भावना रखकर व्यभिचारका पोषण हो सकता है। इसलिए दुरुपयोगको हटाकर हमें हरएक सम्प्रदायके मौलिक रूपपर विचार करना चाहिए और उसी दृष्टिसे उसकी आलोचना करना चाहिए। तब हमें सब सम्प्रदाय अपने अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार अविरुद्ध और अभिन्न मालूम होंगे, और अपनी योग्यतानुसार हम उन सभीसे लाभ उठा सकेंगे।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अगर इस प्रकार सब धर्मोंको अच्छा साबित करनेकी कोशिश की जायगी, तो अच्छे और बुरेका विवेक ही नष्ट हो जायगा, सब लोग वैनयिक मिथ्यादृष्टि हो जायँगे। परन्तु मेरे उपर्युक्त वक्तव्यमें इस प्रश्नका उत्तर है। मेरे उपर्युक्त वक्तव्यमें सर्व-धर्म-समभावका जो विवेचन किया गया है, उसमें सब धर्मोंको सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके लिये अच्छा नहीं बताया है, किन्तु यह कहा गया है कि सब धर्मोंका अपने अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें उपयोगी स्थान है। किस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें किस धर्मका कितना उपयोगी स्थान है, इसका निर्णय तो विवेकसे होता है; जब कि वैनयिक मिथ्यादृष्टिके पास विवेक नामकी कोई चीज़ ही नहीं होती।

यह हो सकता है कि एक धर्म अधिक समयके लिये और अधिक प्राणियोंके लिये उपयोगी हो और दूसरा कम हो, परन्तु इससे कोई भी निरुपयोगी नहीं कहा जा सकता। सबका अपना अपना स्थान है। सुईकी अपेक्षा तलवारकी क़ीमत ज्याद: हो सकती है, परन्तु सुईका काम तलवार नहीं कर सकती; अपने अपने स्थानपर दोनों ही ठीक हैं। दोनोंको अपने अपने समयपर उपयोगी समझना एक बात है और स्वरूपमें अविवेक रखना दूसरी बात है। वैनयिक मिथ्यादृष्टि किसी धर्मकी उपयोगिता नहीं समझता, वह तो अविवेकसे सबको एक समझता है। इसलिये वैनयिक मिथ्यादृष्टिमें और सर्व-धर्म-समभावीमें जमीन आसमानसे भी अधिक अन्तर है।

यहाँ दूसरा प्रश्न यह उठता है कि अहिंसा आदि धर्मोंका तत्त्व न्यूनाधिक रूपमें सब धर्मोंमें पाया जाता है, परन्तु विश्वकी समस्याको

सुलझानेके लिये सभी धर्म एक दूसरेसे इतना अधिक विरुद्ध कथन करते हैं कि उन सबका समन्वय करना मुश्किल है। कोई द्वैत मानता है, कोई अद्वैत मानता है; कोई ईश्वर मानता है, कोई नहीं मानता। भला इन सब बातोंका कोई मेल कैसे कर सकता है? और जब इनमेंसे किसी एक धर्मकी बात युक्ति आदिसे विरुद्ध सिद्ध होती हो, तब उस धर्मको असत्य समझते हुए भी सत्यके समान उसका आदर कैसे किया जा सकता है?

निःसन्देह यह एक आवश्यक प्रश्न है; परन्तु इसका कारण है धर्मकी मर्यादाका भूल जाना। हमें यह समझ लेना चाहिये कि धर्म, धर्म है, वह दर्शन नहीं है, भौतिक विज्ञान नहीं है, गणित नहीं है, ज्योतिष नहीं है, इतिहास नहीं है, भूगोल नहीं है। धर्मशास्त्र इन सबका उपयोग करता है, परन्तु ये सब धर्मशास्त्र नहीं हैं। अर्थशास्त्रमें गणितका उपयोग होता है, परन्तु गणित अर्थशास्त्र नहीं कहलाता। काव्यमें व्याकरणका उपयोग होता है, परन्तु व्याकरण काव्य नहीं कहलाता। व्याख्यानके लिये व्याख्यान-भवनका उपयोग होता है, परन्तु व्याख्यान-भवन व्याख्यान नहीं कहलाता। इसी प्रकार धर्मके लिये दर्शनका उपयोग होता है, परन्तु दर्शन, धर्म नहीं कहला सकता। धर्म और दर्शन[१] ये जुदे जुदे शास्त्र हैं। धर्मशास्त्रका काम है कि प्राणियोंको सुखी बननेका मार्ग बतलाये; जब कि दर्शनका काम है कि विश्वके रहस्यको प्रकट करे। ये सब शास्त्र धर्मशास्त्रके सहायक हैं। परन्तु आज तो हर एक विषय धर्मशास्त्रमें ठूँस दिया गया है, इसीलिये जैन-ज्योतिष, जैन-भूगोल, जैन-गणित, जैन-व्याकरण, आदि

१ Religion and Philosophy

शब्दोंकी रचना हुई है। कोई जैन-भूगोलका खंडन करके यह अभिमान करे कि मैंने जैनधर्मका खंडन कर दिया, तो वह भूलता है। किसी भी धर्मका खंडन तब कहा जा सकता है जब कि उस धर्मके द्वारा बतलाया हुआ आचरणीय मार्ग प्राणि-समाजको दुःखदायक साबित कर दिया जाय। दर्शन आदिका काम वस्तुके विषयमें विचार करना या निर्णय करना है, परन्तु धर्मशास्त्रका काम उस निर्णयको सुखोपयोगी बना देना है। धर्मका सुखसे साक्षात् सम्बन्ध है, जब कि दर्शन, ज्योतिष आदिका परम्परासम्बन्ध है। यही कारण है कि किसी अन्य शास्त्रके प्रवर्तककी अपेक्षा धर्मप्रवर्तकका स्थान ऊँचा है। इसलिये दर्शनोंमें परस्पर विरोध होनेसे हमें धर्ममें विरोध न समझना चाहिये।

यहाँ एक तीसरी शंका पैदा होती है कि दर्शनको अगर हम धर्मशास्त्रसे जुदा भी कर दें, तो भी धर्मोंमें परस्पर भिन्नता रह जाती है और अगर हम उनमें सम-भाव रखने लगें, तो हमारे लिये यह निर्णय करना कठिन हो जायगा कि हम किस धर्मका पालन करें।

इसके उत्तरमें संक्षेपमें मेरा कहना यही है कि आप किसी भी धर्मका पालन करें, परन्तु इन दो बातोंका खयाल रक्खें—

प्रथम तो यह कि जब कोई धर्म पैदा होता है या नये रूपमें दुनियाँके सामने आता है तब उसके सामने उस समयकी परिस्थिति रहती है, इसलिये उसका रूप उस परिस्थितिके अनुकूल होता है। कालान्तरमें वह परिस्थिति बदल सकती है। सम्भव है आज भी वह परिस्थिति बदली हुई हो। इसलिये परिस्थितिके प्रतिकूल तत्त्वोंको अलग करके हमें अपने धर्मको अर्थात् सम्प्रदायको सच्चा धर्म बना लेना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि अपने धर्मका चाहे पुराना रूप हो, चाहे नया अर्थात् सुधरा हुआ रूप हो, वह अमुक परिस्थितिमें अमुक श्रेणीके लिये ही है। अपने धर्मको हमें सम्पूर्ण धर्म नहीं, परन्तु धर्मकी एक अवस्था या धर्मका एक अंश कहना चाहिए। जैनशास्त्रोंकी परिभाषामें अगर मैं धर्मको 'प्रमाण' कहूँ तो जुदे जुदे नामोंसे प्रचलित धर्मोंको अर्थात् सम्प्रदायोंको नय कहूँगा। 'नय' प्रमाणका अंश है न कि पूरा प्रमाण; सम्प्रदाय धर्मका अंश है, न कि पूरा धर्म।

किसी धर्मको सच्चा कहना या मिथ्या कहना, यह उसके स्वरूपपर नहीं किन्तु अपेक्षापर निर्भर है। नय, सच्चा नय तभी कहलाता है जब कि वह दूसरे नयका विरोध नहीं करता। दूसरे नयका विरोध करनेवाला नय मिथ्या नय या दुर्णय कहा जाता है।

इसी प्रकार सम्प्रदाय भी वही धर्म कहा जा सकता है, जो दूसरे सम्प्रदायका विरोध नहीं करता। अगर कोई सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायका विरोध करता है, उसकी दृष्टिको गौण ही नहीं करता किन्तु नष्ट भी करता है, तो वह सम्प्रदाय मिथ्यात्व है, पाखण्ड है। ये सब जुदे जुदे, एक दूसरेके शत्रु बनकर खड़े होंगे, तो पाखण्ड कहलायँगे और मिल करके खड़े होंगे, तो सत्य कहलायँगे, धर्म कहलायँगे।

धर्मोंकी विविधताका रहस्य समझनेके लिये निम्नलिखित सूत्रोंका स्मरण रखना उपयोगी होगा—

१—धर्म एक ही है और वह सुख-मार्ग है।

२—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार उसके स्वरूप अनेक हैं।

निरपेक्षाः नयाः मिथ्या सापेक्षाः वस्तु तेऽर्थकृत्।

—समन्तभद्र

३—धर्मके अंश होनेसे वे स्वरूप भी धर्म कहलाते हैं।

४—प्रत्येक सम्प्रदाय अगर दूसरे सम्प्रदायको सिर्फ अविवक्षित करता है, उसका विरोध नहीं करता तो वह धर्म है, अन्यथा अधर्म है।

५—दर्शन, इतिहास, भूगोल आदि धर्मशास्त्र नहीं हैं।

६—जिस प्रकार अंशसे अंशीका ज्ञान किया जाता है उसी-प्रकार हम प्रत्येक सम्प्रदाय रूप अंशसे धर्मरूप अंशीका ज्ञान कर सकते हैं। शर्त यह है कि उसमें अनेकान्त—स्याद्वाद—अर्थात् सर्व-धर्म-सम-भावका तत्त्व होना चाहिये।

धर्मका उद्देश्य

साधारण लोगोंकी मान्यता यह है कि धर्म परलोकके लिए है। यह बात मानी जा सकती है कि धर्मसे परलोक सुधरता है, परन्तु धर्मोंकी उत्पत्ति लौकिक आवश्यकताका ही फल है। पारलौकिक फल तो उनका आनुषङ्गिक फल है। जैनशास्त्रके अनुसार जिस समय यहाँ भोगभूमि थी अर्थात् युगलियोंका युग था, उस समय यहाँपर कोई भी धर्म नहीं था, जैनधर्म भी नहीं था। इसका कारण यही है कि उस समय मनुष्यको कोई लौकिक कष्ट नहीं था। उस समय साम्यवाद इतने व्यापक रूपमें था कि प्राकृतिक दृष्टिसे भी लोगोंमें कोई विषमता नहीं थी। जैन-शास्त्र कहते हैं कि उस समय स्त्री-पुरुषोंके शरीरकी दृढ़तामें भी विषमता नहीं थी; उस समय कोई राजा या अफसर नहीं था, वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं थी, अत्याचार अनाचार आदि नहीं था; स्वामी-सेवकका भेद न था, अकालमृत्यु और बीमारी नहीं थी। जैन-शास्त्र उस

कालको पहिला आरा या सबसे अच्छा काल कहते हैं और कहते हैं कि उस समय कोई धर्म नहीं था। जैनशास्त्रोंके इस वर्णनका ऐतिहासिक मूल्य भले ही कुछ न हो; परन्तु उससे इतना तो मालूम होता है कि जैनधर्मके संस्थापक प्रवर्तक और सञ्चालक जिसे सबसे अच्छा काल कहते हैं, वह काल धर्मरहित था। जैनधर्मके अनुसार जब यह काल नष्ट हो गया, कष्ट बढ़े उसके बाद अनेक धर्म पैदा हुए। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जब तक समाजमें विषमता पैदा नहीं होती, समाज दुःखी नहीं होता, तब तक कोई धर्म पैदा नहीं होता। धर्मकी उत्पत्ति दुःखको दूर करनेके लिये ही हुई है। गीताके शब्दोंमें भी दुःखको दूर करनेके लिए ईश्वरका या धर्मका अवतार होता है। महात्मा बुद्धने संसारको दुःखसे छुड़ानेके लिए एक धर्मसंस्थाको जन्म दिया। महात्मा ईसा, महात्मा मुहम्मद आदि संसारके सभी धर्म-संस्थापकोंने दुःखी समाजके दुःखको दूर करनेके लिए धर्म-संस्थापना की है और अपना जीवन अर्पण किया है। धर्म सुखके लिए है, इस सर्वसम्मत बातको सिद्ध करनेके लिए अधिक प्रमाण देनेकी जरूरत ही नहीं है।

धर्मकी आवश्यकता क्यों हुई, जब हमें यह बात मालूम हो गई, तब धर्म क्या है, इसके समझनेमें विशेष कठिनाई नहीं रह जाती। उस समय धर्मका यह सीधा सादा लक्षण हमारे ध्यानमें आ जाता है कि जिस नीति या मार्गसे दुःख दूर हो सकता है उसे धर्म कहते हैं। इसलिये अगर हम धर्मको समझना चाहते हों, तो हमें जगत्के दुःखों और दुःखोंके दूर करनेके उपायको जान लेना चाहिये। इसके बाद धर्मकी मीमांसा करना कठिन नहीं है।

त्रिविध दुःख।

प्रत्येक प्राणी संसारके विविध दुःखोंसे घबराया हुआ है। उसे सुखकी अपेक्षा दुःख कई गुणा भोगना पड़ता है। इस दुःखको हम तीन अंशोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) बाह्य प्रकृति और हमारे शरीरकी रचना ही कुछ ऐसी है कि वह दुःखके कारण जुटाती रहती है।

(२) सामग्री कम है, भोगनेवाले ज्यादः हैं; और तृष्णा और भी ज्यादः है, इसलिये प्राणियेंमें परस्पर संघर्ष होता है जिससे अनेक तरहके अन्याय और अत्याचार होते हैं। इससे दुःख बढ़ जाते हैं।

(३) मनुष्यको सुखी रहनेकी कलाका ज्ञान नहीं है, इसलिये उसे दुःखका अनुभव जितना होना चाहिये उससे अधिक होता है। ईर्ष्या आदिसे वह अनावश्यक दुःखोंकी सृष्टि करता है।

इन तीनों प्रकारके दुखोंको हम क्रमसे प्राकृतिक, परप्राणिकृत और स्वकृत कह सकते हैं।

प्राणियोंका शरीर घृणित है, बहुत ही जल्दी इसमें रोग होते हैं; भोगोंसे यह कमज़ोर हो जाता है, अपने आप भी शिथिल हो जाता है और अन्तमें इच्छा न रहते हुए भी नष्ट हो जाता है। इधर प्रकृति भी हमारी इच्छाके अनुसार काम नहीं करती। हम चाहते हैं कि हवा चले, परन्तु हवा नहीं चलती। हम चाहते हैं कि ठण्डी हवा चले, तो ग़रम चलती है। इस प्रकार न तो प्रकृति हमारी इच्छाओंकी या हमारे शरीरकी आवश्यकताओंकी गुलाम है, न शरीर हमारी इच्छाओंके अनुसार काम करता है। इन दुःखोंसे बचनेके लिये परस्पर सहयोगसे एक दूसरेके दुःखोंको दूर करना तथा सहनशील

बनना सिखाया जाता है। सहनशीलता और परस्पर प्रेम या सहयोगसे हम दुःखोंसे बहुत कुछ सुरक्षित रह सकते हैं। कुछ तो दुःखके निमित्त कारण दूर हो जाते हैं और जो कुछ रहते हैं, वे हमारे ऊपर प्रभाव नहीं डाल पाते-अर्थात् हमें दुःखी नहीं बना पाते। प्राकृतिक दुःखोंको दूर करनेका इससे बढ़कर कोई उपाय नहीं है।

परप्राणिकृत दुःखोंको कम करनेके लिये भी धर्मकी आवश्यकता है। जितनी सामग्री है और जितने भोगनेवाले हैं, उनकी योग्य व्यवस्था करनेसे परप्राणिकृत दुख कम किये जा सकते हैं। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" के सिद्धान्तके अनुसार बलवान् अगर निर्बलोंको पीड़ा देते रहें, तो कोई भी मनुष्य सुखी न हो सकेगा। छीना-झपटीसे भोग-सामग्रीमें वृद्धि तो हो नहीं सकती, बल्कि कुछ हानि ही होगी, और कोई भी प्राणी निराकुलतासे उसका भोग न कर सकेगा। अगर कोई किसीको न सतावे, न धोखा दे, न उसकी चोरी करे, तो सभी लोग न्याय-प्राप्त सामग्रीका निराकुलतासे भोग कर सकेंगे। इसलिये सबको संयमसे काम लेनेकी आवश्यकता है।

संयमके दो भेद किये जाते हैं—इन्द्रिय-संयम और प्राणि-संयम। इन्द्रियोंको वशमें करनेको इन्द्रिय-संयम कहते हैं। इन्द्रिय-संयमी मनुष्य अपने जीवन-निर्वाहके लिये कमसे कम सामग्रीका उपभोग करता है, वह बची हुई सामग्री दूसरोंके काम आती है, इससे संघर्ष कम होता है और सुख बढ़ता है। अगर एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करेगा तो दूसरेको कमी पड़ेगी, इससे दूसरा मनुष्य दुखी होगा और संघर्षसे दोनों दुखी होंगे। एक अच्छे राज्यमें जो कार्य कानूनके बलपर कराया जाता है, धर्म वही कार्य आत्म-शुद्धिके मार्गसे कराना चाहता है।

यद्यपि क़ानूनके मार्गसे धर्म समता-प्रचारका विरोधी नहीं है, फिर भी उसका ज़ोर आत्म-शुद्धिपर है। क्योंकि क़ानूनके बलपर जिस समताका प्रचार किया जाता है वह अस्थिर होती है और सिर्फ़ बहिर्ज्वालाओंको दूर कर पाती है। लोगोंकी तृष्णा शान्त नहीं होती; अवसर मिलनेपर वे मनमाना भोग करते हैं। उनमें वह उदार दृष्टि नहीं रहती, जिससे मनुष्य त्यागमें सुखका अनुभव करता है। हाँ, 'कुछ न होनेसे कुछ अच्छा' इस उक्तिके अनुसार जहाँ आत्म-शुद्धिके संयमका यथायोग्य प्रचार न हो सकता हो, वहाँ क़ानूनसे काम लिया जाय; परन्तु यह कानूनी संयम जब आत्मिक संयमके रूपमें परिणत हो जाय तभी सच्चा सुख प्राप्त होगा। क्योंकि इसमें वे लोग भी सुखी होंगे, जो प्राप्त हुई अधिक सामग्रीका त्याग करेंगे, अथवा अधिक सामग्रीको प्राप्त करनेकी शक्ति रहते हुए भी अधिक सामग्रीको प्राप्त करनेकी चेष्टा न करेंगे। इससे संघर्ष और अशान्ति रुकेगी।

दूसरा संयम प्राणि-संयम है। इसमें दूसरे प्राणियोंको दुःख देनेका निषेध किया गया है। यह संयम तो बिलकुल स्पष्ट रूपमें दुःख-निरोधक है। आजतककी अधिकांश सरकारोंने इसी संयमके एक बहुत स्थूल और संकुचित भागको पालन करानेका काम किया है। पशु-पक्षियोंके विषयमें इस संयमका पालन बहुत कम हुआ है और इन्द्रिय-संयमकी तरफ़ तो सरकारोंका ध्यान नहींके बराबर गया है। परन्तु आज लोगोंको इन्द्रिय-संयमकी उपयोगिता समझमें आने लगी है। क्योंकि यह बात स्पष्ट हो गई है कि जबतक समर्थ लोग इन्द्रिय-संयमका पालन न करेंगे या उनसे पालन न कराया जायगा, तब तक निर्बलोंको पेटभर भोजन मिलना और प्रकृति-प्रदत्त

स्वाभाविक जीवन बिताना भी कठिन है। भले ही यह कानूनी संयम आत्मिक संयमकी बराबरी न कर सके; परन्तु इससे इतनी बात सिद्ध होती है कि संसारकी सुख-वृद्धि या दुःख-हानिके लिये संयम अनिवार्य है। सरकार रूपी इमारतें इसी संयमकी नींवपर खड़ी होती हैं। हवा-पानीके समान संयम भी जीवनके लिये आवश्यक है।

इस संयमकी पूर्णता तो पूर्ण आत्म-विकासमें ही हो सकती है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे इस संयमकी पूर्णता-अपूर्णताका विचार करना है। जीवन-निर्वाहके लिये अपने उचित हिस्सेसे अधिक सामग्रीका उपयोग न करना पूर्ण इन्द्रिय-संयम है। जो इससे अधिक सामग्रीका उपभोग करे किन्तु मर्यादा रक्खे, वह अपूर्ण संयमी है। जो मर्यादा न रक्खे, वह अविरत या असंयमी है। इसी प्रकार जो मनुष्य जीवनको रखनेके लिये अनिवार्य हिंसासे अधिक हिंसा नहीं करता वह प्राणि-संयमकी दृष्टिसे पूर्ण संयमी है। जैसे श्वास लेनेमें, चलने-फिरनेमें, शौचादिमें हिंसा अनिवार्य है। यद्यपि इन कार्योंमें यत्नाचार करना आवश्यक है, फिर भी कुछ न कुछ द्रव्य-हिंसा अवश्य होगी। यह अनिवार्य है। इस अनिवार्य हिंसासे जो अधिक हिंसा करे, किन्तु मर्यादा रक्खे वह अपूर्णसंयमी है। जो अमर्याद हिंसा करे, वह असंयमी है। इसी प्रकारके और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस चर्चासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि धर्ममें बताये हुए ये दोनों संयम, शरीर शोषक, जीवन-नाशक, और परलोकमें ही फल देनेवाले नहीं हैं, किन्तु इनसे जीवन और शरीरकी रक्षा है और परलोकके सुखकी अपेक्षा ऐहिक सुखके लिए इनकी आवश्यकता अधिक है। इसलिये संयमका ध्येय दुख नहीं, सुख है।

पर-सुखमें निज-सुख

यद्यपि संयम, सुखके लिये आवश्यक है यह बात सिद्ध हो जाती है, फिर भी सामाजिक सुखकी वृद्धिका हिसाब कैसे लगाना चाहिये और उसके लिये कौनसी नीति निश्चित करना चाहिये, इस बातपर विचार करना आवश्यक है। यहाँ मैं सुखके विषयमें कुछ नहीं कहता, क्योंकि वह स्वानुभवगम्य है। प्रश्न यह है कि किसका सुख यहाँ लिया जाय। साधारण दृष्टिसे तो यही कहना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी अपने सुखके लिये प्रयत्न करता है। दूसरोंके सुखके लिए जो वह प्रयत्न करता है, वह इसीलिये कि दूसरोंका सुख अपने सुखको बढ़ानेमें या सुरक्षित रखनेमें सहायक है। माँ-बाप भी भविष्यकी आशासे संतानसे प्रेम करते हैं। परन्तु अगर इस प्रकारका हिसाब रक्खा जाय कि जिससे हमें सुखकी आशा हो उसे ही हम सुखी करनेकी चेष्टा करें, तो हमें दूसरोंसे बहुत कम सुख मिलेगा और दूसरोंको हमसे बहुत कम सुख मिलेगा। हम रास्तेमें जाते जाते किसी गड्ढेमें गिर गये, उस समय हमें मनुष्य-मात्रसे सुखकी आशा करनी पड़ती है। प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें ऐसे सैकड़ों प्रसंग आते हैं, जब उसे हरएक मनुष्यसे सहायताकी आवश्यकता होती है। अगर मनुष्य बिलकुल स्वार्थी हो जाय या ऐसे मनुष्योंके ही हितका विचार करे जिससे उसे प्रत्युपकारकी आशा है, तो मनुष्य-जाति शीघ्र ही नष्ट हो जायगी। अनुभवने यह बतलाया है कि केवल त्यागके नामपर ही नहीं बल्कि सुखके लिये मनुष्यको परोपकार करना चाहिये, इसीमें मनुष्यकी

स्वार्थसिद्धि है। इसके लिए एक कल्पना कीजिये कि दो मनुष्य ऐसे हैं जो एक दूसरेको सहायता नहीं पहुँचाते। प्रत्येक आदमी सालमें एक मास बीमार रहता है, इसलिये उनके ग्यारह महीने सुखमें और एक महीना दुःखमें बीतता है। परन्तु दुःख मनुष्यको इतना असह्य है कि ग्यारह महीनेका सुख एक महीनेके दुःखके आगे कम मालूम होता है। अगर हम ग्यारह महीनेके नीरोगता (सुख) के अंश (डिग्री) ग्यारह सौ कल्पित कर लें, तो एक महीनेके दुःखके (ऐसी बीमारीके कि जिसमें कोई पानी देनेवाला भी नहीं है) अंश हमें २२०० मानना पड़ेंगे। इस तरह इनमेंसे प्रत्येक मनुष्यके हिस्सेमें ११०० डिग्री सुख और २२०० डिग्री दुख पड़ेगा। इस तरह हिसाब करनेपर प्रत्येकके हिस्सेमें ११०० डिग्री दुःख ही रह जायगा। परन्तु दो ऐसे मनुष्य हैं जो एक दूसरेको पूर्ण सहायता पहुँचाते हैं। इस लिये जब उनमें कोई बीमार पड़ता है तब उसे सिर्फ़ रोगका ही कष्ट होता है। इन दोनों रोगियोंकी तुलना कीजिये। एक ऐसा है कि उसे न तो कोई पानी देनेवाला है, न औषध देनेवाला है, न उसे कोई खाने देता है। पेशाब आदि मल-त्याग वह बिस्तरमें या आस-पास कर लेता है। एक महीनेतक सफ़ाई भी कोई नहीं करता। इस रोगीमें और उस रोगीमें जिसको इन सब कष्टोंका सामना नहीं करना पड़ता, आकाश-पातालका अंतर है। उसका दुःख अगर २२०० डिग्री है, तो इसका सिर्फ २००। इस तरह इनमेंसे प्रत्येकके हिस्सेमें ११०० डिग्री सुख और २०० डिग्री दुःख पड़ा। अगर अपने साथीकी परिचर्या करनेका कष्ट १०० अंश और जोड़ लिया जाय, तो इनका कष्ट ३०० डिग्री होगा।

इस तरह इन्हें ८०० डिग्री सुखरूपी मुनाफा हुआ जब कि पहिलेको ११०० डिग्री दुःखरूपी नुकसान है। कहनेका तात्पर्य यह है कि परोपकार करनेमें हमें जितना कष्ट उठाना पड़ता है, उससे असंख्य-गुणा कष्ट उसका कम हो जाता है जिसके साथ परोपकार किया जाता है। बच्चेको माँ-बाप पालते हैं इससे माँ-बापको कष्ट होता है जरूर, परन्तु बच्चेका कष्ट जितना कम होता है उससे दसवाँ हिस्सा भी माँ-बापका कष्ट नहीं बढ़ता। ये उदाहरण छोटे क्षेत्रमें हैं परन्तु विश्वभरके लिये इस नीतिसे काम लेनेमें संसारका सुख कई गुणा बढ़ जाता है। अपने अपने स्वार्थकी दृष्टि रखनेसे संसारमें जितनी सुख-सृष्टि हो सकती है, परोपकाररूप सहयोगसे वह सुख-सृष्टि वर्गधाराके समान बढ़ती जाती है। एक मनुष्य अगर एक डिग्री सुख पैदा कर सकता है, तो दो मनुष्य २×२=४ डिग्री सुख पैदा कर सकते हैं। इसी प्रकार तीन मनुष्य ३×३=९, चार मनुष्य ४×४=१६, पाँच मनुष्य ५×५=२५ डिग्री सुख पैदा कर सकते हैं। इसी नियमपर 'एकसे आधे दो से चार' की लोकोक्ति प्रचलित है। अगर स्वार्थियोंका समाज और परोपकारियोंका समाज, ऐसे दो समाज कल्पित किये जायँ, तो दोनों समाजके व्यक्ति सुखके लिये समान प्रयत्न करनेपर भी पहिलेकी अपेक्षा दूसरे समाजके मनुष्य असंख्य-गुणे सुखी होंगे। कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मनुष्य अपने ही सुखके लिये प्रयत्न करता है; परन्तु परोपकारी हुए बिना संसारमें इतना सुख ही तैयार नहीं हो सकता जिससे उसे सुखका बहुत और अधिक स्थायी भाग मिले। इसलिये परोपकारको भी स्वार्थ—उच्चतम स्वार्थ—सात्विक स्वार्थ समझना चाहिये। परोपकारका क्षेत्र

विस्तीर्ण होगा, सुखका क्षेत्र भी विस्तीर्ण होगा, परप्राणिकृत दुःखको दूर करनेमें यह एक ऐसा उपाय है कि जिसमें किसी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है।

कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेके लिए वेदान्तने इसी उपायको स्वीकार किया है। वेदान्तके अनुसार मूलमें सारा जगत् एक है। जिसे इस एकत्वका दर्शन हो जाता है, उसकी दृष्टिमें स्वार्थ और परार्थका भेद ही नहीं रह जाता है। इसमें आपत्ति है तो इतनी ही है कि प्राणियोंके अनुभव जुदे जुदे होनेसे, तथा जड़ और चेतनमें सत्ता-सामान्यकी दृष्टिमें समता है, परन्तु वे दोनों एक ही तत्त्व नहीं हो सकते, इसलिए, संसार अनेक द्रव्यात्मक है। अनेकको एक माननेकी यह कल्पना बुद्धि-संगत नहीं है, इसलिए एकत्वके ऊपर विश्वास नहीं होता, तब उसको आधार बनाकर कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना कैसे बन सकता है? अगर हम यह समझ जायँ कि हमारा स्वार्थ परोपकारके बिना टिक ही नहीं सकता, तो भले ही दूसरे जीवोंमें और पदार्थोंमें हमसे व्यक्तिगत विभिन्नता हो, परन्तु हमें परोपकारको धर्म बनाना पड़ेगा और उसे स्वार्थका अंग मानना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि चाहे सब जड़-चेतन-संसारको एक मानो या जड़ और जीवको पृथक् पृथक्, परन्तु सुखी होनेके लिए परोपकारको स्वार्थके समान, परात्माओंको स्वात्माके समान महत्त्व देना पड़ेगा, परोपकारको हमें एक स्वभाव बना लेना पड़ेगा। परोपकारके क्षेत्रमें सिर्फ मनुष्योंका ही नहीं, किन्तु पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा स्थावरोंका भी समावेश होगा। जिसने परोपकारको

स्वार्थ समझा, समस्त प्राणि-जगत् जिसने परोपकारका क्षेत्र बनाया, वही निष्पाप और सुखी है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि मनुष्योंके और पशु-पक्षियोंके उपकारको हम अपना कर्तव्य या स्वार्थ समझें, यह ठीक है; परन्तु कीट-पतङ्गोंका विचार क्यों करें ? उनसे हमें क्या लाभ हो सकता है ? हम उनका कितना ही उपकार क्यों न करें, वे उसका बदला हमें कभी नहीं दे सकते। इस प्रश्नके उत्तरमें तीन बातें कही जा सकती हैं—

(क) कीट-पतङ्गोंमें मनुष्यों या पशु-पक्षियोंके समान बुद्धि भले ही न हो, फिर भी उनमें इतना ज्ञान होता है कि वे सतानेवालेको सतानेकी चेष्टा करें। बिच्छू वगैरह सतानेसे डंक मारते हैं। विशेष बुद्धि न होनेसे उपकार-अनुपकारके कार्य वे अच्छी तरह न कर सकें, यह दूसरी बात है; परन्तु उनमें भी ये भावनाएँ होती हैं और यथाशक्ति वे इन्हें कार्य रूपमें परिणत करनेकी चेष्टा भी करते हैं, यहाँ तक कि वृक्ष भी संतुष्ट और असंतुष्ट होते हैं।

(ख) अगर हम प्रत्युपकारकी निराशासे उनका खयाल न रक्खें, तो हमारी आत्मा धीरे धीरे इतनी स्वार्थी हो जायगी कि हमारे उपकारका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जायगा, और कालान्तरमें यह संकुचितता हमारे स्वार्थकी भी बाधक हो जायगी।

(ग) आत्मा अमर है, इसलिये अगर आज हम मनुष्य हैं तो सदा मनुष्य ही न बने रहेंगे। कभी हमें कीट-पतंग पशु-पक्षी-वृक्ष आदि भी होना पड़ेगा। अगर आज हम प्रत्युपकारकी निराशासे इन्हें सताते हैं, तो जब हमें कीट-पतंग वृक्ष आदि होना पड़ेगा, तो दूसरे लोग भी हमें सतायेंगे। अगर हम इनपर दया रक्खेंगे,

तो हमें भी उस दयाका परिणाम कीट-पतंगके भवमें मिलेगा। मतलब यह है कि हर एक प्राणीको हर जगह जन्म लेना पड़ता है, इसलिये जितनी अधिक जगहमें सुखका विस्तार किया जाय, सुखी जीवन बितानेके लिये उतना ही अधिक क्षेत्र संसारमें तैयार होता है। इसलिये हमें अपने वर्तमान स्वार्थका ही विचार न करना चाहिये, बल्कि त्रैकालिक स्वार्थका विचार करना चाहिये। मान लो कि एक नगरमें सभी लोगोंकी यह आदत है कि वे खिड़कीमें बैठकर सड़कपर थूका करते हैं। इससे पथिकोंको कष्ट होता है। इसपर खिड़कीमें बैठनेवाले यह सोचें कि इसमें हमारा क्या जाता है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जो अभी मकानके ऊपर बैठा है वह सदा वहीं न बैठा रहेगा, उसे भी कभी पथिक बनना पड़ेगा। उस समय दूसरेका थूक उसके ऊपर गिरेगा। इस दुःखसे बचनेके लिये सबके ऊपर थूकनेकी आदत छोड़नी पड़ेगी। इसलिये विश्वके समस्त जीवोंके विषयमें हमें इसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये। शक्तिशाली अगर निर्बलोंको सताना छोड़ दें, तो जब शक्तिशाली निर्बल होगा, तब उसको इस नीतिका लाभ मिलेगा। इसलिये शक्तिशालीका परोपकार भी कालान्तरमें अपने स्वार्थके लिये हो जायगा।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि साधारण प्राणियोंका पतन होता है, इसलिए वे परोपकारके झंझटमें पड़ें; परन्तु जो योगी हैं जीवन्मुक्त हैं, वे परोपकार क्यों करें? इस प्रश्नके उत्तरमें तीन बातें कहना है—

(१) जीवन्मुक्त भी एक दिन साधारण व्यक्ति होते हैं।

उनके ऊपर भी समाजके द्वारा किये गये उपकारोंका थोड़ा बहुत बोझ रहता है। उसके बदलेमें वे समाजोद्धार करते हैं। यदि ऐसे लोग समाजोद्धार न करें, तो आगेके लिए उस संस्थाका मार्ग रुद्ध हो जायगा, जिससे लोग जीवन्मुक्त होते हैं। मतलब यह कि कृतघ्नताके परिहारके लिए जीवन्मुक्तोंको भी समाज-सेवा करनी चाहिये।

(२) जीवन्मुक्त हो जानेपर भी मनुष्य, समाजाश्रयका त्याग नहीं करता, इसलिए वह अपनी वर्तमान आवश्यकता-पूर्तिका बदला भी समाज-सेवाके द्वारा चुकाता है।

(३) जीवन्मुक्तमें राग-द्वेष आदि विकार नहीं रहते, परन्तु उनके मन-वचन-काय कुछ न कुछ कार्य करते हैं। इधर जीवन्मुक्तको किसी स्वार्थ-सिद्धिकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए उसके मन-वचन-काय परोपकारके सिवाय और क्या कर सकते हैं?

इस प्रकार चाहे जीवन्मुक्त हो, चाहे संसारी, सबको सुख-वृद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिये। और यह खयाल रखना चाहिये कि अगर हम दूसरेको सुखी बनानेका प्रयत्न न करेंगे, तो हम सुखी नहीं हो सकते। परप्राणिकृत दुःखोंको दूर करनेके लिए हमें इसी उदार नीतिसे काम लेना आवश्यक है।

जगत्कल्याणकी कसौटी

यहाँ तक यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जगत्के कल्याणमें हमारा कल्याण है। परन्तु जगत्के कल्याणका निर्णय कैसे किया जाय, यह एक महान् प्रश्न है। यह बात तो सभी लोग समझते हैं कि अहिंसा आदिसे जगत्का कल्याण है, दान आदि शुभ कार्य हैं, परन्तु कभी

कभी युद्ध करना (हिंसा) भी आवश्यक होता है। दानकी अधिक प्रवृत्तिसे बेकारोंकी संख्या बढ़ने लगती है। कभी कभी दो धर्मोका पालन अशक्य होता है। अगर सत्य बोलते हैं तो हिंसा होती है; अगर हिंसाको बचाते हैं तो झूठ बोलना पड़ता है। इस अवसरपर क्या किया जाय ? कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय कैसे किया जाय ?

बहुतसे लोग कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णयके लिये सदसद्विवेकबुद्धि या अन्तर्नादके अनुसार कार्य करनेकी बात कहते हैं। परन्तु यह आवाज़ ठीक ठीक रूपमें महापुरुषोंको ही सुनाई देती है। परन्तु ऐसे मनुष्य इने-गिने होते हैं और कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णय करनेकी जरूरत तो सभीको होती है। दूसरी बात यह है कि अन्तर्नादके नामपर दंभकी सेवा होती है। पापीसे पापी—किन्तु बातें बनानेमें चतुर—व्यक्ति भी अन्तर्नादकी दुहाई देकर घोर दुष्कृत्य करते हैं, इसीलिये ऐसी कसौटी बनाना चाहिये जो तर्कपर कसी जा सके।

दूसरी बात यह है कि अन्तर्नाद आकस्मिक नहीं है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णयके लिये हम जिन सिद्धान्तोंको जीवनमें उतारते हैं, आत्मामें जिनका अनुभव होता रहता है उन्हींके अनुसार हमें अन्तर्नाद सुनाई पड़ता है। जब उसका तात्कालिक कारण समझमें नहीं आता, तब वह अन्तर्नाद कहलाता है। सच पूछा जाय तो अन्तर्नाद एक ऐसा भीतरी तर्क है, जिसे हम शब्दोंमें उतारकर दूसरोंको नहीं समझा पाते। इसलिये अन्तर्नाद सुननेके लिये हमें उस सिद्धान्तको जाननेकी आवश्यकता है जिसके अनुसार चलनेपर हमें अन्तर्नाद सुनाई दे सके। इस सिद्धान्तके निर्णय किये बिना हम सदसद्विवेक-बुद्धिसे भी काम नहीं ले सकते।

बेन्थाम, मिल आदि पाश्चिमात्य विद्वानोंने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करनेके लिये "अधिकांश लोगोंका अधिकतम सुख*" का नियम निश्चित किया है । कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णयको व्यावहारिक रूप देनेमें इससे अच्छी युक्ति दिखलाई नहीं देती। भारतवर्षके प्रत्येक धर्ममें इस नीतिको स्वीकार किया गया है। परन्तु इस नीतिका जो साधारण अर्थ किया जाता है, उसमें कुछ त्रुटि रह जाती है। इस त्रुटिको लोकमान्य तिलकने इन शब्दोंमें रक्खा है—

"इस आधिभौतिक नीति-तत्त्वमें जो बहुत बड़ा दोष है वह यही है कि इसमें कर्ताके मनके हेतु या भावका कुछ भी विचार नहीं किया जाता और यदि अन्तस्थ हेतुपर ध्यान दें, तो इस प्रतिज्ञासे विरोध खड़ा हो जाता है कि अधिकांश लोगोंका अधिक सुख ही नीतिमत्ताकी कसौटी है।....केवल बाह्य परिणामोंका विचार करनेके लिये उससे बढ़कर दूसरा तत्त्व कहीं नहीं मिलेगा। परन्तु हमारा यह कथन है कि जब नीतिकी दृष्टिसे किसी बातको न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना हो, तब केवल बाह्य परिणामोंको देखनेसे काम नहीं चल सकता।....पांडवोंकी सात अक्षौहिणियाँ थीं और कौरवोंकी ग्यारह, इसलिये यदि पांडवोंकी हार हुई होती, तो कौरवोंको अधिक सुख हुआ होता। क्या उसी युक्तिवादसे पाँडवोंका पक्ष अन्याय्य कहा जा सकता है?....व्यवहारमें सभी लोग यह समझते हैं कि लाखों दुर्जनोंको सुख होनेकी अपेक्षा एक ही सज्जनको जिससे सुख हो, वही सच्चा सत्कार्य है।"

भावकी प्रधानता सभी धर्मशास्त्रोंमें बहुत अधिक परिमाणमें पाई

* "Greatest good of the greatest number"

जाती है। हिंसा हो जानेपर भी अगर हमारी भावना हिंसा करनेकी न हो, तो हमें हिंसाका दोष नहीं लगता और भाव होने पर हिंसा न होनेपर भी हिंसाका दोष लगता है। यह बात अहिंसाके विवेचनमें स्पष्ट की जायगी।

अधिकांश लोगोंके अधिकतम सुखवाली नीति व्यवहारमें अत्यन्त उपयोगी है, इसलिये हम उसका त्याग नहीं कर सकते। और भाव-विशुद्धिके विना आत्म-विश्वास नहीं हो सकता, न ठीक ठीक निर्णय ही हो सकता है; इसलिये हम भावको गौण स्थान भी नहीं दे सकते। इस समस्याके सुलझानेके लिये अधिकांश प्राणियोंके अधिक-तम सुखवाली नीतिमें कुछ संशोधन आवश्यक है, उसके लिये हमें निम्नलिखित सूत्रोंको स्वीकार करना चाहिये—

(क) अधिकतम लोगोंका अधिकतम सुखमें 'लोग' शब्दका अर्थ प्राणी है। धर्मके सामने त्रिकाल त्रिलोककी समस्याएँ हैं, इस लिये इतना व्यापक अर्थ करना उचित है।

(ख) सभी जीवोंका सुख समान नहीं होता। चैतन्यकी मात्रा बढ़नेसे सुखदुःखानुभवकी मात्रा बढ़ती है। द्वीन्द्रियादि जीवोंमें वन-स्पतिकी अपेक्षा कई गुणा चैतन्य है। इनसे अधिक पशु-पक्षियोंमें और इनसे अधिक मनुष्योंमें। इनमें भी परस्पर तारतम्य देखना चाहिये। इस नीतिमें केवल संख्याका विचार नहीं करना है, सुखकी मात्राका भी विचार करना है।

(ग) नीतिका निर्णय सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे करना चाहिये। दस चोर एक आदमीको लूट लें, इससे दस चोरोंको सुख

और एक ही आदमीको कष्ट होगा; परन्तु इस नीतिको हम अच्छा नहीं कह सकते। क्योंकि चोरी करनेकी नीतिसे एक समय और एक जगह भले ही अधिक सुख हो परन्तु अन्य समयमें और अन्य क्षेत्रोंमें दुःखकी वृद्धि बहुत अधिक होगी। जो सर्वत्र और सर्वकालमें अधिकतम प्राणियोंको अधिकतम सुखकारक हो वही नीति ठीक है।

(घ) जो परोपकार परोपकार-बुद्धिसे न किया गया हो वह बहुत ही कम सुखवर्द्धक है। उसका श्रेय कर्त्ताको बहुत कम मिलता है।

एक आदमी यशके लिये परोपकार करता है। यह इस लिये ठीक नहीं है कि जब उसे यशकी आशा न होगी या यशकी चाह न होगी तब वह परोपकार न करेगा। यह सुख-वृद्धिमें बड़ा भारी बाधक है। उसका ध्येय यश है। इस लिये अगर यशके लिये कभी उसे अनुचित कार्य करनेकी आवश्यकता होगी तो वह अनुचित कार्य भी करेगा। इस प्रकार परोपकारका मूल्य तभी हो सकता है जब वह भावपूर्वक किया गया हो।

(ङ) अशुभ भावसे कोई कार्य किया जाय, और उसका फल शुभ हो जाय, तो वह अशुभ ही कहलायगा; इसी तरह शुभ भावसे कोई कार्य किया जाय किन्तु उसका फल अशुभ हो जाय तो वह शुभ ही कहलायगा। क्योंकि भावना अच्छी होनेपर भी बुरा कार्य होना कादाचित्क है। सामान्य नियम यही है कि उससे शुभ कार्य हो, इस लिये शुभ भावना सुखवर्द्धक है। दूसरी बात यह है कि भावनाके अनुसार अगर अच्छे-बुरेका निर्णय न किया जाय, तो अच्छा काम करना अशक्यप्राय हो जायगा। अच्छी भावनासे डॉक्टर

ऑपरेशन करे और रोगी मर जाय; इसपर डाक्टरको खूनीके समान मृत्यु-दण्ड दिया जाय, तो कितने डॉक्टर ऑपरेशन करनेको तैयार होंगे? इसलिए अधिकतम सुखके लिए भावनाको प्रधानता देना आवश्यक है।

इस सबका सार यह है कि सार्वत्रिक और सार्वकालिक अधिकतम प्राणियोंके अधिकतम सुखकी भावनासे जो कार्य किया जाय वह कर्तव्य है और बाकी अकर्तव्य। इस तरह आधिभौतिक और आध्यात्मिकके सम्मिश्रणसे हमें कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयकी कसौटी मिल जाती है; और अनेक तरहकी शंकाओंका समाधान हो जाता है। जैसे कि—रावणने सीताको चुराया, रामने युद्ध करके रावणके वंशका नाश कर दिया। अगर राम युद्ध न करते; तो राक्षस-वंशके लाखों मनुष्य मरनेसे बच जाते, सिर्फ़ राम और सीता इन दो व्यक्तियोंको दुःख होता और लाखोंको सुख।

यद्यपि वर्तमानकी दृष्टिसे यह घटना विपरीत नीतिकी सूचक है, परन्तु सार्वत्रिक विचारसे इसका निर्णय हो जाता है। इस घटनाको लक्ष्य करके अगर यह नियम बना दिया जाय कि अगर कोई किसीकी पत्नीको चुरा ले जाय तो उसे उसकी रक्षाके लिये विशेष प्रयत्न न करना चाहिये; तो इसका फल यह होगा कि प्रतिदिन हजारों लाखों स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट होने लगेगा। यह दुःख एक बार युद्धमें मर जानेवाले सैनिकोंके दुःखकी अपेक्षा बहुत अधिक होगा। मतलब यह कि अन्यायका प्रतिकार करना एक बार भले ही अधिक प्राणियोंको दुःखद हो, परन्तु सदाके लिये वह सुखद है। समाजके भय तथा चिन्ताको रोकनेके कारण उसकी सुखदता और बढ़ जाती है।

सुखी बननेकी कला

इस नीतिको अगर हम पूर्णरूपसे काममें ला सकें, तो बहुतसे दुःखोंका अन्त आ सकता है; परन्तु पूर्णरूपसे इस नीतिका कार्यान्वित होना अशक्य है तथा अगर इस विषयमें हमें सफलता मिल भी जाय तो भी अन्य प्राकृतिक दुःख तो बने ही रहेंगे। इन सब दुःखोंको हम थोड़ा बहुत कम कर सकेंगे, परन्तु बहु भाग बचा ही रहेगा। इसलिये हमें सुखी बननेकी कला सीखना चाहिये। अनेक मनुष्य ऐसे देखे जाते हैं कि जिनके पास अन्य मनुष्योंकी अपेक्षा सुख-सामग्री अधिक होती है; फिर भी ईर्ष्या असंतोष आदिके कारण वे दुःखी रहते हैं और अनेक मनुष्य ज़रा-सी विपत्तिमें घबरा जाते हैं, रोते हैं, जब कि अनेक महापुरुष हँसते हँसते मरते हैं। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जो लोग सुखी रहनेकी कला जानते हैं, वे हर हालतमें सुखी रहते हैं और जो इस कलाको नहीं जानते, वे हर हालतमें दुखी रहते हैं। धर्म हमें इसी कलाका शिक्षण देता है। इस शिक्षणकी कुछ बातें ये हैं—

जिस प्रकार हम किसी मकानमें भाड़ेसे रहते हों और वहाँपर हमें कोई विशेष कष्ट दे, हमारा अपमान करे, हमारी सम्पत्तिका अपहरण करे, तो हम उस मकानको छोड़ देते हैं, हम उस मकानकी पर्वाह नहीं करते। इसी प्रकार अगर हम शरीरकी भी पर्वाह न करें, शारीरिक जीवनसे आत्म-जीवनको महान् समझें, शरीरके लिये आत्माका नहीं किन्तु आत्माके लिये शरीरका बलिदान करना सीखें, मृत्युको गृहपरिवर्तन या वस्त्रपरिवर्तनके समान समझें, तो दुःखपूर्ण घटनाएँ हमें दुःखी न कर सकेंगी या नाममात्रको दुखी कर सकेंगी।

हमें यह निश्चित समझ लेना चाहिये कि हमारा किसीके ऊपर कुछ अधिकार नहीं है। जो जितनी सहायता करे वह उसकी सज्जनता है; अगर न करे तो हमें बुरा माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

संसारका दुःख और सुख कुछ स्थिर नहीं है। वर्तमान विपत्ति आखिर नष्ट होगी ही। अगर यह इस जीवन-भर स्थिर भी रहे, तो भी अनन्त-कालके सामने यह जीवन इतना छोटा है कि इसकी तुलना समुद्रके सामने एक कणसे भी नहीं की जा सकती।

नाटकके पात्रोंकी महत्ता उनके पदपर स्थिर नहीं है, अर्थात् राजा बनने वाला उत्तम पात्र हो और रङ्क बननेवाला जघन्य पात्र हो यह बात नहीं है किन्तु, जिसको जो काम सौंपा गया है, वह काम जो अच्छी तरहसे कलाके साथ कर सकता है वही अच्छा पात्र है। इसी प्रकार संसारमें अपने कर्त्तव्यको पूर्णरूपसे करनेवाला ही उत्तम है। धन, प्रभाव, यश आदिसे किसीकी उत्तमताका अनुमान लगाना ठीक नहीं है।

जिस प्रकार कांटोंसे बचनेके लिये समस्त पृथ्वीतलपर चमड़ा नहीं बिछाया जा सकता, किन्तु पैरोंके चारों तरफ चमड़ा लपेटा जाता है, अर्थात् जूते पहने जाते हैं, उसी प्रकार दुःखसे बचनेके लिये हम संसारकी अनिष्ट वस्तुओंका नाश नहीं कर सकते, न उन्हें वश कर सकते हैं; किन्तु समताकी भावनासे अपनेको तदनुकूल कर सकते हैं।

इसलिये अगर हम दुखी न होनेका दृढ़ निश्चय कर लें, तो हमें कोई दुःखी नहीं कर सकता। ये सब तथा इसी तरहकी अन्यान्य

शिक्षाएँ दुख-सुखको हमारे अधीन कर सकती हैं। इस विषयमें रोगीके समान हमें दो वातोंपर विचार करना चाहिये—

रोगी मनुष्यके दो कर्त्तव्य होते हैं। एक रोगकी यथाशक्ति चिकित्सा करना और दूसरे सहनशक्तिसे काम लेना। ये ही दो कार्य दुःख-रोगियोंके लिये हैं—(१) संसारमें सुखकी वृद्धि करना। (२) सुखी माननेका दृढ़ निश्चय करना, अर्थात् सुखकी कला सीखना।

शंका—मनुष्यको अगर इस प्रकार सुखी रहनेकी कला सिखाई जायगी, तो मनुष्य आलसी और कायर हो जायँगे। उनका संतोष उनकी पराधीनता या गुलामीका कारण हो जायगा जो कि परम्परासे धार्मिक, सामाजिक आदि हर तरहके पतनका कारण होगा।

समाधान—सुखी रहनेकी कला और उसके साधन संतोष, उदासीनता, क्षमा, त्याग आदि गुणोंसे कायरता आदि दुर्गुणोंमें बहुत अन्तर है। हर एक गुणके पीछे गुणाभास लगा रहता है। जैसे अहिंसाके पीछे निर्बलता, क्षमाके पीछे कायरता, विनयके पीछे दीनता, आदि। उन गुणोंसे इन गुणाभासोंमें आकाश-पातालका अन्तर होता है। गुण जितने उपादेय हैं, गुणाभास उतने ही हेय हैं। ये गुण गुणाभास न बन जायँ, इसके लिये संसारमें सुखवृद्धि करनेकी पहिली वात हमें भूल न जाना चाहिये। और यह भी याद रखना चाहिये कि मन-वचन-कायकी क्रिया (योग) सदा होती ही रहती है। जब तक मृत्युका पल प्राप्त न हो जाय तब तक मन, वचन और काय कुछ न कुछ काम करते ही रहते हैं। जब काम होना अनिवार्य है तब सुख-वृद्धि या दुःख-हानिका काम होना चाहिये। इसलिये अपनी अपनी नीति और योग्यताके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको

सुखके साधनोंको जुटाना और दुःखके साधनोंको नष्ट करनेका कार्य करना आवश्यक है। सुखी रहनेकी कलाका यह मतलब नहीं है कि हम दुःखको दूर करनेका उपाय ही न करें; परन्तु हम एक दुःखको दूर करनेके लिए अन्य अनेक दुःखोंको मोल न ले लें, इसके लिये सुखी रहनेकी कला सीखना चाहिए। बीमार होनेपर चिकित्सा करना आवश्यक है, परन्तु अगर कोई बीमारीके नामसे घबरा जाय, तो उसकी बीमारी कई गुणी दुखद हो जायगी और साथ ही वह चिकित्सा भी न कर सकेगा। इसलिये हर हालतमें समभावको स्थिर रखना, यही सुखी रहनेकी कला है। दुःखके आने पर हमें उसका सामना करना चाहिए। सामना करनेके लिये दो बातें आवश्यक हैं। एक तो दुःखको नष्ट करना और उसकी चोटोंको सहन करना। जो आदमी शत्रुकी चोटोंको नहीं सह सकता, वह शत्रुका नाश भी नहीं कर सकता। उसी प्रकार जो आदमी दुःखकी चोटोंको नहीं सह सकता, अर्थात् दुःख आनेपर सम-भावपर स्थिर नहीं रह सकता, वह दुःखको नहीं जीत सकता।

लड़ाईमें कभी कभी ऐसा होता है कि जहाँ शत्रुका प्रवेश अधिक मात्रामें होता है वहाँसे अपना मोर्चा हटा लेना पड़ता है, जिससे शत्रुके गोले खाली जगहमें पड़कर नष्ट हो जायँ। इसी प्रकार कभी कभी ऐसे दुःख आते हैं जिन्हें दूर करनेमें हमें अपने विनाशका, अर्थात् सम-भावके विनाशका ख़तरा रहता है। तब उन चोटोंको हम शरीरपर पड़ने देते हैं, और शरीरका त्याग कर देते हैं, अर्थात् उससे ममत्व हटा लेते हैं। सुख शरीरका धर्म नहीं है, किन्तु आत्माका धर्म है, इसलिए शरीरके दुःखसे आत्मा दुःखी नहीं होता।

जो लोग सुखी रहनेकी कलाके नामपर, आध्यात्मिक जीवनके नामपर, सन्तोष आदि गुणोंके नामपर, स्वयं गुलामी स्वीकार करते हैं और संसारमें दुःखकी वृद्धि होने देते हैं, वे इन सब गुणोंसे कोसों दूर हैं।

जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ दुःखको जीतनेके लिए दो बातें हैं। या तो उसकी चोटको सहते हुए (समभाव रखकर दृढ़तासे आगे बढ़ते हुए) उसे नष्ट कर दो अथवा दुःखकी चोटोंके स्थानको छोड़ दो। जिन लोगोंमें समताभाव होता है, और जो शरीरमें भी निःसंग होते हैं, उनमें कायरता हो नहीं सकती, न वे गुलाम हो सकते हैं और न किसीको गुलाम होते देख सकते हैं। सुखी रहनेकी कला इसलिए नहीं है कि मनुष्य पशुकी तरह दुर्दशामें पड़ा रहे या अपनी सर्वतोमुखी दुर्दशा होने दे। इस कलासे मतलब है उस समभावका, जो घोरसे घोर विपत्तिमें भी निराशा और घबराहट नहीं होने देता; इस कलासे मतलब है उस वीर-रसका, जिससे मनुष्य विपत्तियोंको उसी तरह देखे जिस तरह शिकारी शिकारको देखता है। विपत्तियोंके सामने आत्मसमर्पण कर देना और गुलामी स्वीकार लेना इस कलाकी हत्या करना है।

साधारण अवस्थामें मनुष्य अगर स्वतन्त्रताके लिये या अन्य सुखके लिये प्रयत्न करता है किन्तु बीचमें उसे असफलता मालूम होती है या पराजय हो जाता है, तो घबरा जाता है, साहस छोड़ देता है, परन्तु जिसने सुखी रहनेकी कलाको जाना है वह हार करके भी नहीं हारेगा, निःसहाय हो करके भी निराश न होगा। पराजय, निराशा आदि शब्द उसके कोपसे निकल जायँगे। समभाव आदि गुण, अकर्मण्यताके लिये नहीं किन्तु, अनन्तकर्मण्यताके लिये हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो धर्म निवृत्ति या गृह-त्यागका ही मुख्य उपदेश क्यों देता है ?

समाधान—इसके उत्तरमें तीन बातें कही जा सकती हैं—

(क) जगत्कल्याणके लिये और आत्मकल्याणके लिये निवृत्ति आवश्यक है। जो मनुष्य परिमित स्वार्थोंको लिये बैठा रहता है, वह जगत्कल्याणके लिये पूरी शक्ति नहीं लगा सकता। क्योंकि जहाँ सपरिग्रहता है, वहाँ व्यक्तिगत कार्योंका बड़ा भारी बोझ है। निष्परिग्रहके लिए यह बोझ नहीं है। वह घरमें रहे या वनमें रहे, परन्तु निष्परिग्रह होना चाहिए। निष्परिग्रहताका रूप सदा सर्वत्र एकसा नहीं होता। तथा निवृत्तिका अर्थ अकर्मण्यता नहीं है, किन्तु वैयक्तिक स्वार्थोंके बन्धनोंसे छूट जाना है।

(ख) बहुतसे मनुष्य ऐसे हैं कि जो अनेक तरहकी तकलीफें बड़ी प्रसन्नतासे सह सकते हैं। परन्तु उन तकलीफोंसे वे दूसरोंकी नज़रोंमें गिर जायँगे, इसलिए उनसे बचनेके लिए निरन्तर आकुलित रहते हैं। मान लो मैं प्रसन्नतासे रूखा-सूखा भोजन खा सकता हूँ। परन्तु इससे मैं कंजूस कहलाऊँगा, अथवा मेरे पास अच्छा भोजन करने लायक सम्पत्ति न होगी तो कंगाल कहलाऊँगा—इस अपमानसे बचनेके लिए आवश्यक न होनेपर भी मैं बहुपरिग्रही बनता हूँ। इसके लिए दूसरेको मिलनेवाली सम्पत्ति मैं हड़प जाता हूँ। इस तरह मेरा मानसिक कष्ट बढ़ता है और दूसरोंके साम्पत्तिक कष्टमें सहायक होता हूँ। परन्तु एक निष्परिग्रही साधु रूखा भोजन करनेसे अपमानित नहीं होता, इसलिये वह दूसरेके भागकी सम्पत्ति नहीं लेता।

इस तरह वह स्वयं सुखी होता है और पर-कल्याण भी करता है। परिग्रहीकी अपेक्षा सच्चा निष्परिग्रही बहुत सुखी है।

(ग) पिछले जमानेमें आजकल सरीखे ज्ञान-प्रचारके साधन नहीं थे इससे, तथा पुस्तकों वगैरहसे उपदेश तो मिलता है परन्तु उसमें सजीवता नहीं होती इससे, उस समय साधु-संस्थाको विशाल बनानेकी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त उस समय अन्न इतना अधिक था कि विशाल साधु-संस्था भी लोगोंको कोई कष्ट दिये बिना निभ सकती थी। फिर इस बातका पूरा खयाल रक्खा जाता था कि कोई मनुष्य कुटुम्बियोंकी इच्छाके विरुद्ध, उत्तरदायित्व छोड़कर, तो नहीं भाग रहा है।

शंका—धर्मका उद्देश्य अगर स्व-पर-कल्याण है, तो वह अनावश्यक कष्टोंको निमन्त्रण देनेका विधान क्यों बताता है? बहुत दिनोंतक भूखे रहना, ठण्ढ गर्मीके कष्ट सहना, आदिसे न तो दूसरोंको सुख मिलता है, न अपनेको सुख मिल सकता है।

समाधान—धर्मने ऐसे तपोंको अन्तरंग तप नहीं किन्तु बाह्य तप कहा है। और इन बाह्य तपोंका मूल्य तभी स्वीकार किया है, जब ये प्रसन्नतासे और निराकुलतासे किये जावें। सुख जितना ही स्वाधीन होगा उतना ही पूर्ण होगा। इसलिये पराश्रितताका त्याग करनेके लिये और सहनशक्तिको बढ़ानेके लिये इन तपोंकी आवश्यकता है। हममें सहन-शक्ति जितनी अधिक होगी, दुःखके साथ हम उतना ही अधिक लड़ सकेंगे। यदि सहन-शक्ति आवश्यक है, तो उसका ऊँचासे ऊँचा रिकार्ड किस किस दिशामें कितना हो सकता है, इसका प्रयत्न करना भी आवश्यक है। एक मनुष्य प्रति

घण्टे २०० मीलकी चालसे मोटरकार दौड़ाता है। यदि व्यवहारमें इतनी चालसे मोटरें दौड़ाई जाने लगें, तो प्रतिदिन हजारों मनुष्योंको प्राण देना पड़ें। फिर भी ऐसे रिकार्ड लानेवालोंकी प्रशंसा होती है, क्योंकि इससे मोटरकारकी गतिको उत्तेजना मिलती है। जिस दिशामें हमें जाना है उस दिशामें कितना आगे बढ़ा जा सकता है, इसका सक्रिय पाठ दुनियाको पढ़ाना बड़ा भारी काम है। दूसरी बात यह है कि ठण्ड, गर्मी, भूख, प्यास आदिके कष्ट मनुष्यको कभी न कभी सहना पड़ते हैं। उस समय हम अपनेको शान्त रख सकें इसके लिये भी ये तप आवश्यक हैं। जो लोग पूजा करानेके लिये ऐसे तप करते हैं वे तपका फल नहीं पाते; तथा जो लोग यह नहीं समझते कि इन तपस्याओंसे सुखकी स्थिरता बढ़ती है तथा प्रकृतिके विरुद्ध लड़नेकी शक्ति आती है, वे लोग भी तपका फल नहीं पाते। इन तपोंको संयम समझनेवाले भी भूलमें हैं। ये तो सिर्फ संयमका अभ्यास करनेके लिये कसरतके समान हैं।

इससे भी अच्छा तप आत्मशुद्धि और सेवा है, जिसे कि अंतरंग तप कहा है। धर्मके किसी एक ही अंगपर ज़ोर देना, उस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका फल है। इसका यह मतलब नहीं है कि जिस अंगपर बहुत दिनोंतक ज़ोर दिया गया है, या जो रूप बहुत काल तक बना रहा है वही सब कुछ है। दूसरे अंग और दूसरे रूप भी हैं। उनका समयपर उपयोग करना भी आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो धर्म एकान्तधर्म और मिथ्याधर्म हो जाय, वह धर्म ही न रहे।

सार यह है कि धर्म सुखके लिये है। जो सुख बाह्य साधनोंपर ही अवलम्बित है, वह पूर्ण सुख नहीं है। स्वार्थपूर्ण दृष्टि बनानेसे वह मिल नहीं सकता। अपने हिस्सेका बाह्य सुख-भोगका हमें अधिकार है। पूर्ण सुखी बननेके लिये सुखी बननेकी कला जानना चाहिए। गुणभासोंसे बचना चाहिए।

धर्म-मीमांसाका उपाय

धर्मका उद्देश्य और उसकी विविधताका रहस्य समझ लेनेके बाद धर्मकी मीमांसाका कार्य बहुत सरल हो जाता है। धर्म सुखका कारण होनेपर भी दुःखका कारण क्यों हो जाता है, कलह-वर्द्धक क्यों हो जाता है, आदि बातोंको समझनेकी कुंजी हाथमें आ जाती है। जगत्कल्याणकी जो कसौटी बताई गई है, उसको ध्यानमें न रखनेसे, धर्मके नामपर अहंकारकी पूजा करनेसे, कल्याणकारी धर्म अकल्याणकारी बन जाता है। इसलिए धर्मसे लाभ उठानेके लिए हमें निम्नलिखित उपायोंकी योजना करना चाहिये—

१—हम सर्व-धर्म-समभावी बनें। अगर हमारा किसी धर्म-संस्थासे ज्यादा संपर्क है, तो हम भले ही उस संस्थाका अधिक उपयोग करें और आत्मीयता प्रकट करें; परन्तु दूसरी धर्म-संस्थाओंको अपनी धर्म-संस्थाके समान पवित्र मानें। उनसे लाभ उठानेका मौका मिलनेपर उनसे लाभ भी उठावें। ये सभी धर्म-संस्थाएँ मनुष्य-समाजको उन्नत बनानेके लिए थीं। उनकी रीति-नीतिमें अगर अन्तर मालूम होता है, तो उस अन्तरसे उन्हें भला-बुरा न समझें; किन्तु उसको देश-कालका असर समझें। करीब सवा हजार वर्ष पहिले अरबके लोगोंकी उन्नतिके लिए इस्लामने जो नियम बनाये,

यदि वे आज किसी देशके लिए निरुपयोगी हैं, तो इसीसे इस्लामको बुरा न समझें। हम इतना ही कहें कि यह नियम आजके लिए उपयोगी नहीं है, इसलिए दूर कर देना चाहिये; परन्तु अपने समयके लिए अच्छा था। इसी उदारतासे हमें वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी, आदि धर्मोंपर विचार करना चाहिये। हम उनकी आलोचना करें; परन्तु पूर्ण निष्पक्षतासे आलोचना करें। उनमेंसे वैज्ञानिक सत्यको खोज लें, बाकीको वर्तमान कालकी दृष्टिसे निरुपयोगी कहकर छोड़ दें। परन्तु इससे उस धर्मका निरादर न करें। जिस सम्प्रदायको हमने अपना सम्प्रदाय बना रक्खा है, उसकी आलोचना करते समय हमारे हृदयमें जितनी भक्ति रहती है, वही भक्ति हम दूसरे सम्प्रदायोंकी आलोचना करते समय रक्खें। अपने सम्प्रदायके दोषोंपर तो हम नजर ही न डालें, और दूसरे सम्प्रदायके दोष ही दोष देखें, यह बड़ीसे बड़ी भूल है। इससे हम किसी भी धर्मके अनुयायी नहीं कहला सकते—धर्मका लाभ हमें नहीं मिल सकता।

२—जो कार्य सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे अधिकतम प्राणियोंके अधिकतम सुखका कारण है, उसे ही धर्म समझें। इसके विरुद्ध कोई भी कार्य क्यों न हो,—भले ही बड़ेसे बड़ा महापुरुष या बड़ेसे बड़ा आगम ग्रंथ उसका समर्थन करता हो; परन्तु उसे हम धार्मिक न समझें। हमारे प्रत्येक कार्यमें यह उद्देश्य जरूर रहे। इस सिद्धान्तको हम अपने जीवनमें उतारनेकी कोशिश करें।

३—उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार सभी सम्प्रदायोंमें कुछ न कुछ हितकर तत्व रहते हैं। हम उन्हींको मुख्यता देनेकी कोशिश करें,

जिससे सब सम्प्रदायोंमें तथा उनके अनुयायिवर्गोंमें आदर और प्रेम बढ़े और सबके जुदे जुदे संगठनके बदले सबका एक संगठन बने। हिन्दूधर्मका कर्मयोग, जैनधर्मकी अहिंसा और तप, बौद्धधर्मकी दया, ईसाईधर्मकी सेवा, इस्लामका भ्रातृत्व, ये सब चीजें सभीके लिये उपयोगी हैं। अन्य सम्प्रदायोंमें भी अनेक भलाइयाँ मिलेंगीं। इन्हींको मुख्यता देकर अगर हम विचार करें, तो सब धर्मोंसे हमें प्रेम भी होगा, आपसका द्वेप भी नष्ट होगा, तथा सबका एक संगठन भी बन सकेगा। इसके लिये हमें जहाँतक बन सके सभी सम्प्रदायोंके धर्मस्थानोंका उपयोग करना चाहिये। अपने सम्प्रदायोंके मंदिरोंमें भी अन्य सम्प्रदायोंके महात्माओंके स्मारक रखना चाहिये। सभी सम्प्रदायोंके महात्माओंके स्मारक जहाँ बराबरीसे रह सकें, ऐसे स्थान बनाना चाहिये। इस प्रकार सर्व-धर्म-समभावको व्यावहारिक रूप देने और उसे जीवनमें उतारनेकी पूरी कोशिश करना चाहिये।

४—बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो एक समय अच्छी थीं, उपयोगी थीं, क्षन्तव्य थीं, इसलिये शास्त्रोंमें या रूढ़िमें स्थान पा गई हैं; परन्तु आज वे उपयोगी नहीं हैं, इसलिये उन्हें हटा देना चाहिये। सिर्फ इसी बातको लेकर कि वे हमारे शास्त्रोंमें लिखी हैं, या पुरानी हैं, उन्हें चालू रखना अन्याय है। जो सर्व-धर्म-समभावी है, वह किसी एक धर्मशास्त्रकी दुहाई देकर किसी अनुचित बातका समर्थन क्यों करेगा? एक सम्प्रदायके शास्त्रमें किसी बातका विधान हो सकता है और दूसरे सम्प्रदायके शास्त्रमें उसका निषेध हो सकता है, तब सर्व-धर्म-समभावीके सामने एक जटिल प्रश्न खड़ा हो जाता है कि वह किसकी बात माने? ऐसी हालतमें उसे यही देखना चाहिये कि कल्याण

किसमें है ? अगर कोई बात सभी शास्त्रोंमें एकसी मिलती है अथवा उनमें जितने मत हों वे सभी वर्तमानमें हितकारी न हों, तो उन सबको छोड़कर उसे कल्याणकारी बात पकड़ना चाहिये। जैसे वर्तमानमें संकुचित जातीयता, स्त्रियोंके पुनर्विवाहका निषेध, पर्दाकी अधिकता, छूताछूतका अनुचित विचार, भूत-पिशाच आदिकी मान्यता, अविश्वसनीय अतिशय, आदि बहुतसे अहितकर तत्त्व आगये हैं, जो कि प्रगतिके नाशक तथा ईर्ष्या और दुरभिमानको बढ़ानेवाले हैं। इन सब कुतत्त्वोंको हटाकर विवेकी बनना चाहिये। एक जैन कहे कि महावीरके जन्म समय इन्द्रादि देवता पूजा करने आये थे, बौद्ध कहें कि बुद्धके जन्म समय ब्रह्मा-विष्णु-महेश मौजूद थे, वैष्णव कहे कि रामके जन्मसमय शिव इन्द्र आदि अयोध्याकी गलियोंके चक्कर काटते थे, तो ये सब बातें अन्ध-विश्वास और मूढ़ताके चिह्न हैं। इनसे विज्ञानकी हत्या होती है, समभाव नष्ट होता है, ईर्ष्या और दुरभिमान बढ़ता है। हमें धर्मको अधिकसे अधिक विज्ञानसंगत बनाना चाहिये और इसी बुनियादपर धर्म तथा समाजका नव-निर्माण या जीर्णोद्धार करना चाहिये।

५,—आज मानव-समाज कई तरहके भेदोंमें बँटा हुआ है। साम्प्रदायिक भेद तो हैं ही, साथ ही और भी अनेक तरहके वर्ग बना लिये गये हैं और इस प्रकार वर्गयुद्ध चालू हो गया है। मनुष्य अपना पेट भरके सन्तुष्ट हो जाता तो गनीमत थी; परन्तु वह इतनेमें सन्तुष्ट नहीं होता, वह यह कोशिश करता है कि हमारी जातिके सब मनुष्योंका पेट भरे और हम सब संगठित होकर दूसरोंको लूटें। इसीलिये एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको पीस डालना चाहता है। लाखों-

करोड़ों मनुष्य दूसरे देशपर शासक बनकर मौज करना चाहते हैं। दूसरे जातिके अच्छेसे अच्छे सदाचारी त्यागी गुणी विश्वसनीय व्यक्तिसे उतनी आत्मीयता प्रकट नहीं करना चाहते जितनी कि अपने वर्गके पतितसे पतित व्यक्तिके साथ करना चाहते हैं। इस राष्ट्रीय जाति-भेदसे आज दुनियाकी राजनीति-अर्थनीति भयंकर तांडव कर रही है और उससे मनुष्य-जाति त्राहि त्राहि पुकार रही है। जरूरत इस बातकी है कि मनुष्य-जाति एक ही मान ली जाय जैसी कि वह है। शासनकी सुविधाके लिये राष्ट्रीय भेद रहें, परन्तु एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रपर पशु-बलसे तथा और किसी ढंगसे आक्रमण न करे। अगर किसी देशमें मनुष्य-संख्या ज्यादः है, तो कम संख्यावाले देशमें जाकर वे इस शर्तपर बस जायँ कि अपनेको हर तरह उसी देशका बना लेंगे, वहाँकी भाषा आदिको अपना लेंगे। उन देशोंपर आक्रमण करके, उन्हें दलित करके अपने वर्गका पोषण करना मनुष्यताका नाश करना है। इससे संसारमें शान्ति नहीं हो सकती। इस नीतिसे कोई चैनसे नहीं बैठ सकेगा और बारी बारीसे सबको पिसना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त एक राष्ट्रके भीतर भी अनेक तरहके वर्ग बने हुए हैं। जैसे भारतवर्षमें हिन्दू-मुसलमानोंमें जाति-भेद और सम्प्रदाय-भेदसे घोर संग्राम छिड़ा रहता है। इसके अतिरिक्त हिन्दू समाजमें ही करीब चार हजार जातियाँ हैं; जिनमें परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार नहीं, इससे पारस्परिक सहयोगका लाभ नहीं मिल पाता है। पड़ोसमें रहते हुए भी न रहनेके बराबर कष्ट उठाना पड़ता है। ये वर्ग-भेद भी ईर्ष्या और दुरभिमानके बढ़ानेवाले हैं। इन सब

भेदोंको तोड़ देनेकी जरूरत है। हाँ, जीवनमें मित्र-वर्ग या सम्बन्धी-वर्ग बनानेकी जरूरत होती है, सो जहाँ चाहेसे बनाना चाहिये। अमुक वर्गमेंसे ही चुनाव कर सकें, यह भेद न होना चाहिये। इस प्रकार जब हममें सर्व-जाति-समभाव आ जायगा, तो हममेंसे वर्ग-युद्धके तथा ईर्ष्या और दुरभिमानके बहुतसे कारण नष्ट हो जायँगे, तथा हमें प्रगतिके लिये तथा सुविधापूर्वक जीवन वितानेके लिये बहुतसे साधन मिल जायँगे। इसलिये हमें अपने दिलमेंसे जाति-उपजातिका मोह निकाल देना चाहिये, जातीय और साम्प्रदायिक विशेषाधिकारोंकी माँग छोड़ देना चाहिये, जातिके नामपर रोटी-बेटी-व्यवहारका विरोध न करना चाहिये। इस प्रकार सर्व-धर्म-समभावीके समान सर्व-जाति-समभावी भी बनना चाहिये।

६—सर्व-जाति-समभावकी तरह नर-नारी-समभाव भी अत्यावश्यक है। यह सर्व-जाति-समभावका एक अंग है। नर-नारीकी शारीरिक विषमता है, परन्तु वह विषमता ऐसी है जैसी कि एक शरीरके दो अंगोंमें होती है। नर-नारी एक दूसरेके लिये पूरक हैं। इसलिये एक दूसरेकी उन्नतिमें एक दूसरेको बाधक नहीं होना चाहिये और जहाँ तक बन सके अधिकारोंमें समानता होना चाहिये। अनेक स्थानोंपर स्त्रीकी अवस्था गुलाम सरीखी है। उसके आर्थिक अधिकार पूरी तरह छिने हुए हैं। फूटी कौड़ीपर भी उसका स्वामित्व नहीं है। यह दुःपरिस्थिति जाना चाहिये। जहाँ तक बन सके, स्त्री-पुरुषोंमें आर्थिक समताका प्रचार होना चाहिये। अगर विषमता रहे भी, तो वह कमसे कम हो। सामाजिक अधिकारोंमें भी विषमता न होना चाहिये। स्त्री सिर्फ इसीलिये किसी कार्यसे वञ्चित न हो सके

कि वह स्त्री है। धार्मिक अधिकारोंमें तो विषमताका कोई मतलब नहीं है। फिर भी पुरुषने धार्मिक क्रिया-कांडोंमें नारीके अधिकार छीने हैं। उससे पुरुषको कोई लाभ भी नहीं हुआ। इसलिये यह विषमता भी दूर करनी चाहिये। इस प्रकार सर्वजाति-समभावके समान नर-नारी-समभावकी भी जरूरत है।

इस प्रकार यदि हम सर्व-धर्म-समभाव, सर्व-जाति-समभाव, विवेक या समाज-सुधारकता, निःस्वार्थता आदि गुणोंको लेकर धर्मकी मीमांसा करेंगे, तो सच्चे धर्मको प्राप्त कर सकेंगे। उस धर्मको जीवनमें उतारनेसे हमारा भी कल्याण होगा और जगतका भी कल्याण होगा।

धर्म और सत्यसमाज

अभीतक धर्मके विषयमें जो कुछ कहा गया है वह केवल विचार-के लिये ही नहीं है किन्तु आचारके लिये है। उस धर्मको जीवनमें उतारनेके लिये अनेक कठिनाइयाँ है। उनमें सबसे जबर्दस्त कठि-नाई है समाजका कोप। ज्यों ही आपने अपने वर्ग या समाजके बाहर रोटी-बेटी-व्यवहार किया कि समाजने आपके सिरपर बहिष्कारका दंड बरसाया। अगर आप आर्थिक दृष्टिसे स्वतंत्र भी हैं तो भी समाजकी आवश्यकता आपको है ही। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिकता उसके स्वभावमें ही नहीं है किन्तु उसके जीवनकी वह आवश्यकता भी है। और नहीं तो अपनी सन्तानके विवाहके लिये तो उसे समाजकी आवश्यकता है ही। एक वार आपने जहाँ समाजके बाहर पैर बढ़ाया कि समाजने आपका बहिष्कार किया। इसी प्रकार जहाँ आपने दूसरे धर्मोंके मन्दिरोंमें जाना शुरू किया, दूसरोंकी

थोड़ी प्रशंसा की और अपने सम्प्रदायका कोई वास्तविक दोष भी बतलाया कि समाजने बहिष्कार, निन्दा आदि शस्त्रोंका प्रयोग किया। मतलब यह कि समाज-सुधार और धर्म-सुधारको जीवनमें उतारनेके लिये वर्तमान समाजोंसे हमें आशा नहीं है और बिना समाजके हम यह कार्य कर नहीं सकते। इसलिये यह उचित मालूम होता है कि एक ऐसे समाजकी स्थापना की जाय, जिसमें ये सब विचार कार्यान्वित किये जा सकें। जिसमें सामाजिक भय तो हो ही नहीं, किन्तु इन कार्योंके लिये उत्तेजनाके साधन हों; बस इसी पूर्तिके लिये यह सत्यसमाज है। इस विषयमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं, परन्तु उनका समाधान करनेके पहले यह उचित मालूम होता है कि सत्यसमाजका रूप बतला दिया जाय, पीछे उस विषयमें उठने वाले प्रश्नोंका उत्तर दिया जाय।

सत्यसमाज-संघटना

उद्देश्य

१–(क) किसी भी सम्प्रदायकी निन्दा न करते हुए निष्पक्ष दृष्टिसे उसकी आलोचना करके वैज्ञानिक सत्यकी खोज करना।

(ख) सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे अधिकतम प्राणियोंके अधिकतम सुखके लिये सत्यकी खोज करके उसे जीवनमें उतारना।

(ग) सम्प्रदायोंके सत्य और हितकर तत्त्वोंको मुख्यता देकर सब सम्प्रदायोंमें परस्पर प्रेम और आदर बढ़ाना तथा उनका समन्वय करके उनका एक संगठन करना।

(घ) शास्त्र, रूढ़ि और संकुचिततासे समाजमें जो अहितकर

तत्त्व आ गये हैं उनको नष्ट करके न्यायोचित और व्यवहार्य नियमोंके आधारपर समाजका नव-निर्माण या जीर्णोद्धार करना ।

(ङ) मनुष्य-मात्रमें यथासम्भव समताका प्रचार करते हुए, हानिकारक भेदोंको तोड़कर मनुष्योंको कल्याणके मार्गमें आगे बढ़ाना ।

शाखाएँ

२--सत्यसमाजके सदस्य दो तरहके होंगे; नैष्ठिक और पाक्षिक ।

(क) जो लोग अपने सम्प्रदाय या समाजमें रहना नहीं चाहते, या किसी कारणसे रह नहीं सकते, वे लोग वहाँसे सम्बन्ध तोड़कर इस समाजके नैष्ठिक सदस्य कहलाँयगे । उनकी जाति होगी ' सत्य-समाज ' और धर्म होगा ' सत्यसमाज ' । इस श्रेणीमें किसी भी देश, किसी भी जाति और किसी भी धर्मका व्यक्ति समानताका दर्जा प्राप्त कर सकेगा ।

(ख) जो लोग अपने सम्प्रदायका त्याग नहीं करना चाहेंगे किन्तु सत्यसमाजके उद्देश्य और नियमोंका पालन करेंगे, वे पाक्षिक सदस्य कहलायँगे । सत्यसमाजद्वारा प्रदर्शित सत्यको वे अपने साम्प्रदायिक शब्दोंमें समझेंगे और उसे जीवनमें उतारेंगे ।

(ग) जो लोग नैष्ठिक या पाक्षिक न बन सकेंगे किन्तु सत्य-समाजके समर्थक और सहायक होंगे, वे अनुमोदक कहलायँगे ।

३--पाक्षिक श्रेणीके सदस्य वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि शाखाओंमें विभक्त रहेंगे; परन्तु निष्पक्षता और सत्यसेवकता सबमें एक-सी होगी । एक शाखावाला दूसरी शाखावालेका विरोध न करेगा । एक दूसरेको धर्मबन्धु भी समझेगा । आवश्यकता होनेपर एक दूसरेके धर्म-स्थानोंमें भी जायगा ।

४—सत्यसमाजी यद्यपि सभी धर्म-स्थानोंको पवित्रता तथा आदरकी दृष्टिसे देखेगा, फिर भी सत्यसमाजके आदर्शको बतलानेवाले स्वतंत्र मंदिर भी होंगे। नैष्ठिक मंदिरमें भगवान् 'सत्य' और भगवती 'अहिंसा'की रूपकमय मूर्ति या चित्र होगा। उसके आसपास यथायोग्य स्थानपर राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा आदिकी मूर्तियाँ या चित्र होंगे।

पाक्षिक सत्यसमाजके मंदिरमें, जिस शाखाका वह मंदिर होगा, उसके मान्य व्यक्तिकी मूर्ति या चित्र मूलनायक (मुख्य मूर्ति) के स्थानपर होगा, अन्य महापुरुषोंकी मूर्तियाँ या चित्र आसपासमें यथास्थान होंगे।

५—सत्यसमाजकी नीति जातीय और साम्प्रदायिक विशेषाधिकारोंके विरोधमें होगी।

शिक्षा-नियम

६—जिसके हृदयमें जाति उपजातिका मोह न रह गया हो तथा जिसमें सर्वधर्म-समभावकी भावना हो, वही भाई या बहिन सत्यसमाजका नैष्ठिक या पाक्षिक सदस्य बने।

[निष्पक्ष आलोचनाओंसे सर्वधर्म-समभावकी हानि न समझी जायगी, इसी प्रकार न्यायकी रक्षाके लिये जातीय प्रश्नोंमें हाथ डालना जाति-उपजातिका मोह न समझा जायगा।]

७—धर्म-शास्त्रोंकी दुहाई देकर कल्याणकारी तत्त्वका या वैज्ञानिक सत्यका विरोध न करना चाहिये।

८—सत्यसमाजीको वेषका पूजक न होना चाहिये। कोई मनुष्य गृहस्थ-वेषमें हो या किसी भी प्रकारके साधु-वेषमें हो उसका, गुण

और समाज-सेवाके अनुसार ही आदर करना चाहिये। वेषको देखकर ही किसीको साधु, पूज्य आदि न मान लेना चाहिये। और साधु-वेषके अभावसे ही उसका कम आदर न करना चाहिये। वेष तो सिर्फ किसी धर्म-संस्थाके सदस्य होनेकी निशानी है, पूज्यापूज्यताका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

९—नैष्ठिक सदस्यको चाहिये कि वह सत्यसमाजके अन्य किसी भी नैष्ठिक सदस्यके साथ सिर्फ जाति-भेदकी दुहाई देकर रोटी-बेटी-व्यवहारका विरोध न करे। पाक्षिक सदस्य भी कमसे कम अपनी शाखाके पाक्षिक सदस्यके साथ इसी उदार नीतिसे काम ले।

१०—नैष्ठिक सदस्य पाक्षिक सदस्योंके साथ, तथा पाक्षिक सदस्य अपनी शाखासे भिन्न शाखाके सदस्योंके साथ, यथासम्भव उपर्युक्त (९ वें नियमकी) उदार नीतिसे काम लें। स्वयं अन्तर्जातीय-विवाहको कार्यरूपमें परिणत करें तथा इस प्रकारके विवाहोंमें बाधा कदापि न डालें।

११—सत्यसमाजीको जाति-पाँतिके नामपर सहभोजका विरोध कहीं भी न करना चाहिये। (भोजनकी अत्यधिक विषमतासे सहभोज न करे, तो बात दूसरी है।)

१२—दोनों प्रकारके सदस्य स्त्री और पुरुषोंके अधिकारोंमें समानताके तत्त्वको मानें। अपनी अपनी योग्यता, प्रकृति और सुविधाके अनुसार कार्य-क्षेत्रका विभाग करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। धर्मकार्यों और धर्मस्थानोंमें भी स्त्रीका स्थान छोटा न माना जाय। दायभाग आदिके मामलोंमें पाक्षिक सदस्य अपनी परिस्थितिके अनुसार यथा-शक्ति समानताका परिचय दे। नैष्ठिक सदस्य सत्यसमाजद्वारा निश्चित नियमोंका पालन करे।

१३–सदस्य बन जानेके बाद सदस्योचित कर्तव्य करनेमें कुटु-म्बियोंकी दुहाई देकर बहाना न बनाना चाहिये। जब तक ऐसी बाधा दूर न हो जाय तबतक सत्यसमाजका अनुमोदक ही बनना चाहिये।

व्यवस्थापक नियम

१४–कमसे कम १८ वर्षकी उम्रवाला कोई भी व्यक्ति सत्यस-माजका सदस्य बन सकेगा।

१५–स्त्री और पुरुष दोनों ही अलग अलग सदस्य बन सकेंगे, अर्थात् दोनोंका व्यक्तित्व अलग अलग समझा जायगा।

१६–जहाँपर पाक्षिक और नैष्ठिक—दोनों मिलाकर पाँच सदस्य होंगे, वहाँ एक ग्राम-शाखा खोली जायगी।

१७–जिस प्रान्तमें १० ग्राम-शाखाएँ हो जायँगी, वहाँ प्रान्तिक शाखा खोली जायगी।

१८–जहाँ ग्राम-शाखा न होगी, वहाँके सदस्य प्रकीर्णक सदस्य कहलायेंगे।

शंका-समाधान

अब मैं यहाँ सत्यसमाजके विषयमें पैदा हुई शंकाओंका समाधान कर देना उचित समझता हूँ जिससे सत्यसमाजका ठीक ठीक रूप ध्यानमें आजाय।

शंका—(१)–सत्यसमाजकी आवश्यकता ही क्या है? सिर्फ विचारोंमें क्रान्ति करनेका काम ही क्यों न किया जाय?

समाधान—विचार-क्रान्ति आवश्यक अवश्य है, परन्तु विचार-क्रान्ति साध्य नहीं, साधन है। विचार-क्रान्ति अगर कार्य रूपमें परि-णत न हो पावे, तो उसका होना न होना बराबर है। आज

हमारे यहाँ समाजमें हजारों नहीं लाखोंकी संख्यामें ऐसे लोग हैं जिनके विचार अच्छी तरह बदल गये हैं, परन्तु एक-फ़ीसदी व्यक्ति भी कार्य-क्षेत्रमें आगे नहीं आ पाते; क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिये उसे समाजकी आवश्यकता तो है ही। अब अगर कोई सुधारके कार्यमें आगे बढ़ता है तो पंचायतें या समाजें उसे अलग कर देती हैं। वह अपनी समाजका त्याग तो कर सकता है परन्तु समाजरहित होकर नहीं रह सकता; उसे कोई न कोई समाज अवश्य चाहिये। आज सभी समाजें संकुचित हैं। जो लोग सर्वधर्म-समभाव रखना चाहते हैं तथा भिन्न भिन्न तरहके समाज-सुधारके कार्य करना चाहते हैं, उनका वर्तमान समाजमें रहना कठिन है, अथवा वे किसी तरह रह भी सकें तो उनको सदा भय लगा रहता है। इसलिये एक ऐसी समाजकी आवश्यकता है जहाँ कोई भी सर्वधर्म-समभावी समाज-सुधारक निराकुलतासे रह सके, अथवा अपनी अपनी समाजमें रहते हुए भी वह इस स्वतन्त्र समाजकी आशासे निराकुल रह सके। अगर इस समाजकी स्थापना न की जाय, तो ऐसे लोग या तो अपने संकुचित क्षेत्रमें पड़े-पड़े जीवन बिता देंगे या बहिष्कृत होकर कष्टमय और पश्चात्तापमय जीवन बिताते रहेंगे। ऐसी हालतमें दूसरोंकी हिम्मत आगे बढ़नेकी नहीं होगी। इसके अतिरिक्त बहुतसे सुधार-कार्य ऐसे हैं जो स्वतन्त्र वायुमण्डलमें ही शीघ्रतासे हो सकते हैं। एक हिन्दू स्त्री लाख शिक्षा देनेपर भी अपनी वेष-भूषा, भाषा, स्वच्छता आदिमें परिवर्तन नहीं कर पाती, किन्तु ईसाई होते ही बिना किसी संकोचके वह सैकड़ों परिवर्तन कर डालती है। समाज-परिवर्तनसे उसका पुनर्जन्म सा हो जाता है। इसलिये

ऐसे लोग जो कि अपनी समाजमें रहते हुए छोटी बड़ी क्रान्तियाँ नहीं कर सकते, वे सत्यसमाजके स्वतन्त्र वातावरणमें आते ही बड़ी सरलतासे कर सकेंगे। इधर उन्हें सत्यसमाजके अन्य सदस्योंका पीठ-बल मिलेगा, उधर पुराने समाजवाले छेड़छाड़ करना भी छोड़ देंगे। हाँ, जो लोग अपनी समाजमें रहते हुए भी सर्वधर्म-समभाव आदिका परिचय दे सकते हैं, वे वहीं रहकर काम करें। परन्तु जिनके लिये समाजमें जगह नहीं है अथवा जो समाजसे घृणा करने लगे हैं, उनके लिये तो कोई स्वतन्त्र स्थान देना ही होगा। वह स्थान सत्यसमाजका होगा।

शंका—(२)-जिस प्रकार वर्तमानके समाज हैं, क्या उसी प्रकार सत्यसमाज भी न हो जायगा? क्या इसमें भी कट्टरता न आ जायगी? आर्यसमाज वगैरह आखिर कट्टर सम्प्रदाय ही तो बन गये?

समाधान—आर्यसमाज स्वतन्त्र सम्प्रदाय भले ही बन गया हो, परन्तु जिस उद्देश्यको लेकर आर्यसमाज खड़ा हुआ था उसकी छाप उसने समस्त हिंदू समाजपर मार दी है और अमुक अंशमें उसने नव-जीवनका सञ्चार कर दिया है। इसलिये आर्यसमाज नामक सम्प्रदाय बननेसे जितनी हानि हुई है, उससे अधिक लाभ उससे होनेवाली जागृतिसे हुआ है। इस प्रकारका भय अगर रक्खा जाय तब तो कोई सुधार नहीं किया जा सकता; क्योंकि विजातीय-विवाहसे भी कालान्तरमें एक नयी जाति पैदा होनेकी सम्भावना है, इसी प्रकार विधवा-विवाहसे भी। छोटे छोटे सुधारोंसे भी दलबन्दियाँ हो जाती हैं और वे स्वार्थरूप भी पकड़ लेती हैं, इसलिये अगर सम्प्रदाय बननेकी सम्भावना भी हो, तो भी हमें सिर्फ इसी बातका खयाल रखना चाहिये कि उससे लाभ अधिक है या हानि। सत्यसमाजकी स्थाप-

नामें आर्यसमाजके समान कट्टरताका बीज भी नहीं है। आर्यसमाजको परिस्थितिसे विवश होकर सब सम्प्रदायोंका उग्ररूपमें खण्डन करना पड़ा था, परन्तु सत्यसमाज प्रारम्भसे ही सभीके समन्वयपर ज़ोर देता है, और विचार-स्वातन्त्र्यका पोषक है। इसलिये एक आस्तिक भी सत्यसमाजी हो सकता है और एक नास्तिक भी सत्यसमाजी हो सकता है। सत्यसमाजमें समानाधिकार रखनेवाली पाक्षिक श्रेणी भी है, जिसमें हरएक धर्मके व्यक्ति होंगे। उनका अस्तित्व भी सत्यसमाजको कट्टर बननेसे रोकेगा। इतनी सतर्कता रखनेपर भी अगर कभी सत्यसमाज विकृत होकर कट्टर बनेगा भी, तो उसपर किसीका क्या वश है? अन्तमें इस प्रकारकी विकृति तो किसी भी सुधार या क्रान्तिमें होती है। तब उसमें क्रान्ति करनेके लिये नये सुधारककी आवश्यकता होती है। इस प्रकार क्रांति-चक्र अनन्त है। हमारा काम है कि हम अधिकसे अधिक सतर्कता रक्खें। सत्यसमाजमें जितनी उदारता रक्खी गई है, उतनी उदारता दूसरी जगह न मिलेगी। अगर वह कभी विकृत भी होगी, तो विकृत होनेके पहिले समाजकी इतनी सेवा कर जायगी जिसके साम्हने विकृतिका दोष किसी गिनतीमें न होगा। हमें अपनी वर्तमान समस्या हल करना चाहिये, भविष्यकी समस्या भविष्यके सुधारक हल करेंगे।

शंका—(३)—सत्यसमाज अगर एक अलग संस्था बन जायगी, तो उसमें आनेके लिये या उससे लाभ उठानेके लिये अपनी जाति और सम्प्रदायसे संबंध तोड़ना पड़ेगा, परन्तु यह बहुत कठिन है। बहुतसे सुधारक सुधार करना चाहते हैं परंतु अपने समाजसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करना चाहते। आप उनको खो देंगे और इने-गिने लोग ही आपका साथ दे सकेंगे।

समाधान—सत्यसमाजमें पाक्षिक श्रेणी इसीलिये है कि किसीको अपने समाजसे सम्बन्ध-विच्छेद न करना पड़े; यहाँ तक कि जो लोग सत्यसमाजके सिद्धान्तोंको कार्यरूपमें जरा भी परिणत नहीं कर सकते, किन्तु सत्यसमाजके विचारोंको पसन्द करते हैं, अनुमोदक रूपमें वे भी सत्यसमाजमें शामिल हो सकते हैं। यों तो छोटासे छोटा सुधार भी कुछ त्याग और साहस माँगता है। विजातीय-विवाह करनेमें जितने त्याग और साहसकी जरूरत है, उससे अधिक त्याग सत्यसमाजकी सदस्यता नहीं माँगती; और अनुमोदक बननेके लिये तो इतने त्यागकी भी आवश्यकता नहीं है। जो लोग सर्वधर्म-समभावका समर्थन कर सकते हैं और विजातीय-विवाह, विधवा-विवाहके आन्दोलनमें भाग ले सकते हैं, जो अछूतोद्धारके पक्षपाती हैं, वे तो अगर सत्यसमाजके नैष्ठिक सदस्य भी बनें, तो भी उन्हें कुछ अधिक त्याग न करना पड़ेगा, न अधिक संकट झेलना पड़ेगा। अगर पाक्षिक सदस्य बनें, तब तो उन्हें और भी अधिक सुभीता है। अगर आपके लिये सत्यसमाजका सदस्य बननेपर भी अपनी समाजमें स्थान है तो आप पाक्षिक सदस्य बनिये; अगर अपनी समाजमें स्थान नहीं है तो नैष्ठिक सदस्य बनिये। मैं पाठकोंसे पूछना चाहता हूँ कि विजातीय विवाह, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, अन्धश्रद्धाके विषयोंसे रहित सर्वधर्म-समभावरूप विचार केवल विचारके लिये हैं कि कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये? बोलनेके लिये बोलना और विचार करनेके लिये करना, तो सुधारकता नहीं है। इस तरह तो हम अनन्तकाल तक वास्तविक सुधार न कर सकेंगे और विश्वमात्रकी या मनुष्यमात्रकी सेवा करनेकी बात तो दूर, परन्तु अपने देशकी भी सेवा न कर

पायँगे। यदि आपका बोलना सिर्फ बोलनेके लिये और विचार सिर्फ विचारके लिये नहीं है, यदि आप उनको थोड़ी बहुत मात्रामें कार्यमें परिणत भी करना चाहते हैं, तो बतलाइये किस तरह करेंगे? इसके लिये आपको आज नहीं तो कल, सहयोगियोंकी आवश्यकता तो अवश्य होगी, परन्तु उन सहयोगियोंको प्राप्त करनेका आपके पास उपाय क्या है? उन सहयोगियोंको एक जगह एकत्रित किये बिना कैसे समझेंगे कि हमें ऐसे सहयोगी मिल गये हैं जो मौकेपर काम आयँगे? जब तक आपके पास इस प्रकारके मूर्त्तिमंत सहयोगी न होंगे, तब तक दूसरोंको किस बलपर भरोसा दे सकेंगे? आज नहीं तो कल इसके लिये आपको एक न एक दल आवश्यक होगा ही, फिर उसे आप सत्यसमाजके नामसे पुकारिये या और किसी नामसे। आपके सामने दोनों रास्ते खुले हैं। आप अपनी समाजमें रहकर भी काम-कर सकते हैं और अलग होकर भी। अपनी रुचि और परिस्थितिके अनुसार आपको जो मार्ग पसन्द हो, उसीसे आप कार्यक्षेत्रमें आइये। प्रारम्भमें इनेगिने लोग ही साथ देंगे, परन्तु अभी तो वे इनेगिने ही कहाँ हैं? अभी तो हमारे पास एक भी नहीं है जिसपर सहयोगका भरोसा रखकर हम कुछ भी कार्य कर सकें। बात बनानेवाले सैकड़ोंकी अपेक्षा कार्यरूपमें सहायता देनेवाले इने-गिने भी बहुत अच्छे हैं। अभी तक जितने आन्दोलन किये गये, सबमें प्रारम्भमें इने-गिने ही मिले हैं। सत्यसमाजमें अगर उससे भी कम आवें, तो भी कार्य-कारी होनेसे हम लाभमें ही रहेंगे। अगर हम इने-गिने ही हिम्मतसे काम लें, तो यह निश्चित है कि थोड़े ही दिनोंमें काफी संख्यामें हम हो जायँगे। बड़ीसे बड़ी नदियोंके स्रोत उद्गमस्थानपर गाँवकी नालीके बराबर भी नहीं होते। उनको देखकर महानदीकी कल्पना

करना भी कठिन होता है। थोड़ी देरको मान लो कि हम इनेगिने ही रहे, तो भी आजकी अपेक्षा टोटेमें न रहेंगे। इस मुट्ठीभर कार्यसे पहाड़ बराबर विचार-क्रान्ति होगी। इसके लिये अगर हमारा बलिदान ही हुआ तो भी वह व्यर्थ न जायगा, वह भविष्यकी सन्तानके लिये पथप्रदर्शक और सहायक होगा। हम एक कदम आगे और बढ़े कि समाज भी—अगर हमारा साथ न भी दे तो भी वर्तमान अवस्थासे एक कदम आगे अवश्य बढ़ेगी। यही क्या कम है? इस विषयमें बुरीसे बुरी सम्भावना जो की जा सकती है, उसको देखते हुए भी हम नुकसानमें नहीं रहेंगे। परन्तु मुझे तो आशा है कि अगर हम थोड़ीसी भी हिम्मत दिखलाएँगे, तो ये बुरी सम्भावनाएँ पास न फटकने पावेंगी।

शंका—(४) सत्यसमाजका क्षेत्र भारतीय धर्मोंतक ही सीमित रहे तो ठीक है।

समाधान—जिस उदार दृष्टिसे हम भारतमें पैदा होनेवाले धर्मोंका समन्वय करेंगे, वह उदार दृष्टि अभारतीय धर्मोंका भी अवश्य समन्वय करेगी, अन्यथा वह नष्ट हो जायगी। वैष्णव, शैव, शाक्त या जैन, बौद्ध आदि भारतीय संप्रदायोंका समन्वय करनेमें ऐसी क्या बात रह जायगी जिससे हम क्रिश्चियानिटी और इसलामका समन्वय न कर सकें? सत्यसमाजका उद्देश कट्टर जातीयता, कट्टर राष्ट्रीयता, और कट्टर साम्प्रदायिकताको नष्ट करके सबमें उदारताका संचार करके मनुष्यको एक जातीय बनाना है। 'भारतीय' की शर्त लगानेसे हम सत्यसे वंचित तो होते ही हैं, साथ ही कट्टरताको भी फैलाते हैं या कायम रखते हैं। जिस प्रकार समाज-हितके लिये भारतीय धर्म

पैदा हुए हैं, उसी प्रकार भारतके बाहरके धर्म भी पैदा हुए हैं। जिस प्रकार भारतके धर्मोंमें भलाइयाँ हैं, उसी प्रकार बाहरके धर्मोंमें भी हैं। जिस प्रकार भारतके धर्मोंमें विकार आ गये हैं, उसी प्रकार बाहरके धर्मोंमें भी विकार आ गये हैं। दोनोंके ही विकार दूर किये जा सकते हैं और उनमेंसे सत्य ढूँढ़ा जा सकता है। इस लिये सैद्धान्तिक दृष्टिसे तो सीमाका संकोच नहीं किया जा सकता। अब रही व्यावहारिक बात। व्यवहारमें शायद यही कठिनाई कही जा सकेगी कि मुसलमान और ईसाई इस तरफ ध्यान न देंगे तथा उनका नाम पड़ा होनेसे हिन्दू भी चौंककर किनाराकसी करेंगे। नियम बनाते समय ही यह कठिनाई मेरे ध्यानमें आई थी। परन्तु यह कठिनाई होनेपर भी हमें इसको जीतनेका प्रयत्न करना ही होगा। भारतीय दृष्टिसे भी अगर विचार किया जाय, तो भी हमें इसी दिशामें चलना होगा। हम सैकड़ों वर्ष तक हिन्दू-संगठन करते रहें, तो भी हम भारतमें एक जातीयता पैदा नहीं कर सकते। न हिन्दू मुसलमानोंको पचा सकते हैं, न मुसलमान सब हिन्दुओंको। संगठनसे हम इस द्वन्द्वको बढ़ा सकते हैं और इसका लाभ तीसरेको पहुँचा सकते हैं। इस लिये हमें उसी नीतिसे काम लेना चाहिये जो कई हजार वर्ष पहिले काममें लाई गई थी और जिसमें आशातीत सफलता मिली है। विष्णु शिव, आदि आर्य-अनार्य देवी-देवताओंका समन्वय करके हिन्दू धर्मके नामपर जब एक उदार धर्म बन गया तब कहीं थोड़ी बहुत शान्ति हुई। इसी प्रकार अब भी हमें इनके साथ महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदिको मिलाकर एक ऐसा उदार धर्म बनाना पड़ेगा जिसमें सब समा सकें। तभी भारतके हिन्दू मुसलमानोंकी समस्या हल

होगी, तथा दुनियाको बन्धुत्वका पाठ पढ़ाया जा सकेगा। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिसे भी इस उदारताकी आवश्यकता है। सत्यसमाजका प्रचार होनेपर दूसरे लोग भी इससे लाभ उठावेंगे।

एक जैनबन्धुने एक यह शंका की है—

शंका (५)—आज विविध सम्प्रदायोंकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए सब सम्प्रदायोंका जैनमें समन्वय क्यों न किया जाय और जैनधर्मको सर्वोपरि धर्म मानकर उसीके अन्तर्गत सब धर्मोंको क्यों न शामिल कर दिया जाय? एक और नया सम्प्रदाय बनाकर फूटकी वृद्धि करनेसे क्या फायदा? इससे सफलता भी न मिलेगी। जैन शब्दमें साम्प्रदायिकता भी नहीं है।

समाधान—मैं मानता हूँ कि कि जैन धर्मके अन्तर्गत अन्य धर्म हो सकते हैं, परन्तु यह भी मानता हूँ कि अन्य किसी भी धर्मके अन्तर्गत अन्यधर्म हो सकते हैं। क्योंकि धर्मका सार भाग सबमें है। इसीलिए तो सत्य-समाजका कहना है कि अपने अपने धर्मका पालन करते हुए मनुष्य पूर्ण आत्मविकास कर सकता है। इसलिये जिनको जैनधर्ममें रहना है वे जैनधर्मके सहारे ही आत्मविकास करें और दुनियाके अन्य धर्मोंको जैनधर्म समझें। दूसरे लोग जैनधर्मको इसी तरह अपनाँयगे। यहाँ तक कोई हानि नहीं है। परन्तु अगर हम साम्प्रदायिक मोहमें पड़कर सब धर्मोंके सिरपर अपना धर्म लादना चाहेंगे, तो यह निरर्थक तथा समभावका विघातक होगा।

अगर हम यह बतलाना चाहते हैं कि हममें साम्प्रदायिक मोह नहीं है और दूसरोंसे भी हम ऐसी आशा रक्खें, उनसे ऐसा अनुरोध भी करें, तब हमें किसी ऐसे नामकी दुहाई न देना चाहिये जो किसी

सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखता हो। 'जिन' या 'जैन' शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ कुछ भी हो परन्तु आज तो वह एक साम्प्रदायिक संस्थाका द्योतक बना हुआ है। यों तो दूसरे नाम भी जिन या जैन सरीखे अच्छे अर्थवाले ही हैं—बुद्धका अर्थ ज्ञानी है, वेद भी ज्ञानार्थक है, इस्लामका अर्थ आप्तवाक्यका पालन है। परन्तु क्या जैन, इस्लामके, वेदके या बुद्धके नीचे मिल जानेको तैयार हैं? यदि नहीं, तो हम यह कैसे आशा करें कि दूसरे लोग जैनके नीचे आनेको तैयार हो जायँगे? सब सम्प्रदायोंको मिलानेके लिये किसी एक सम्प्रदायके नामको अपनाना हास्यास्पद प्रयत्न है। जब हम जैनधर्मको सर्वोपरि मानकर उसके नीचे सब धर्मोंको लाना चाहते हैं तब यह प्रयत्न साम्प्रदायिक कट्टरताको दूर करनेके लिये नहीं, किन्तु एक नया द्वन्द्व खड़ा करनेके लिये हो जाता है। इसके लिये तो हमें एक ऐसे नामको ही अपनाना पड़ेगा जिससे लोगोंका द्वेष न हो, सभी सम्प्रदायोंमें जो सन्मानित हो और जिसके प्रयोगसे किसीको अपने सम्प्रदायके जय या पराजयका अनुभव न हो। सत्य शब्द इसके लिये सर्वोत्तम है। यदि सत्य नामका कोई सम्प्रदाय होता, तो मुझे इस नामका भी त्याग करना पड़ता।

सत्यसमाज भी भविष्यमें विकृत हो जायगा, परन्तु इसीसे वह अनावश्यक नहीं है। जो मनुष्य पैदा हो रहा है वह एक दिन बीमार होगा और मरेगा, इसीलिये उसका पैदा होना बन्द नहीं किया जा सकता। जो मकान बन रहा है वह एक दिन जीर्ण होगा और गिरेगा, इसीलिये उसका बनाना बन्द नहीं किया जा सकता। आज जैसे हम जीर्ण मकानके स्थानपर नया मकान बना रहे हैं,

कल जब यह जीर्ण होगा तब दूसरा कोई इसके स्थानपर नया मकान बनायगा । इस प्रकार सुधारकों और क्रान्तिकारकोंकी परम्परा तो चालू ही रहेगी। कल फिर भूख लगेगी, इसीलिये आजका खाना बन्द नहीं किया जा सकता ।

आपका यह वाक्य बड़ा ही सुन्दर है कि 'आज विविध सम्प्रदायोंकी आवश्यकता ही नहीं है । सभीको किसी रूपमें एक हो जाना चाहिये ।' परन्तु जिस किसी रूपमें एक बनेंगे, वह रूप इन सम्प्रदायोंके रूपसे व्यापक और कुछ भिन्न तो अवश्य होगा । तब उस नये रूपका नया नाम भी होगा । जहाँ नया रूप है वहाँ नया नाम भी है । अगर आपने उसे कुछ भी नाम नहीं दिया, तो भी नया रूप, उदार धर्म, आदि किसी शब्दसे प्रगट तो करेंगे । तब 'नया रूप' यह भी एक नाम होगा । 'उदार धर्म' यह भी एक नाम होगा । इस प्रकार जो चीज किसी न किसी रूपमें गले पड़नेवाली है, उसको हम सँभालकर विवेकपूर्वक ही स्वीकार क्यों न करें ?

सत्यसमाज नया सम्प्रदाय बन रहा है कि नहीं, अथवा फूटकी वृद्धि कर रहा है कि नहीं, यह तो भविष्य बतलायगा । परन्तु अपने सामने एक महान सफलता मौजूद है जिससे हम बहुत कुछ शिक्षा ले सकते हैं । वह सफलता है हिन्दूधर्मकी । आज हिन्दूधर्म एक धर्मके समान बना हुआ है, परन्तु मूलमें यह बात नहीं थी । वैष्णव, शैव और शाक्त ये मूलमें उतने ही जुदे जुदे धर्म हैं जितने कि आज वैदिक और इस्लाम हैं । परन्तु धीरे धीरे इन सबका इतना अच्छा समन्वय कर दिया गया कि वैष्णव-शैवका भेद रहनेपर भी

आज एक वैष्णव शिव-मन्दिरपर आक्रमण नहीं करता, न शैव विष्णु-मन्दिरपर आक्रमण करता है। बल्कि एक दूसरेके लिये पर्याप्त सम्मान भी है। यहाँ तक कि पशु-बलिको महान् पाप समझनेवाले वैष्णव भी कालीकी निन्दा न करेंगे। इस उदारताने इस अन्तःकलहको नामशेष कर दिया है। अन्यथा एक दिन ये हिन्दू भी मुसलमानोंकी तरह लड़ते थे। निःसन्देह हिन्दुओंकी मुसलमानों, ईसाइयों, बौद्धों और जैनोंके साथ प्रतिद्वन्द्विता है; परन्तु जितनेके समन्वय करनेका उन्होंने प्रयत्न किया उतनेका समन्वय तो हुआ। उनका विरोध समन्वयकी सीमाके बाहर हुआ। इसी प्रकार सत्यसमाज कुछ कदम आगे बढ़कर जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मोंके साथ हिन्दूधर्मको मिलाकर एक व्यापक रूप देना चाहता है। तब हिन्दूधर्मके समान इसको भी सफलता मिले, तो यह कोई अनहोनी बात नहीं है। यह माना कि इतना बड़ा विशाल कार्य मुझ सरीखे तुच्छ व्यक्ति न कर सकेंगे, परन्तु यह काम भी तो मुझ अकेलेका नहीं है। मैं तो इस कामके लिए लोगोंको निमन्त्रण देता फिरता हूँ। सब मिलकर इस कामको करेंगे। सम्भव है इसके लिये, भविष्यमें कोई महात्मा आवे तो उसके मार्गके असंख्य पत्थरोंमेंसे अगर हमने थोड़े बहुत साफ कर दिये, मार्ग-सूचनके कुछ निशान बना दिये, तो क्या बुरा है? जो कार्य अच्छा है उसके लिये हमें यथाशक्ति प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

इस प्रकार जो काम हिन्दू धर्मने विविध धर्मोंको मिलाकर किया, वही कार्य सत्यसमाजको सब धर्मोंको मिलाकर करना है। जिस प्रकार हिन्दू समाजने शक हूण आदिको पचाया है, उसी तरहकी

पाचनशक्ति सब धर्मोंमें पैदा करके जातीय तथा प्रान्तीय आदि दीवालोंको तोड़कर मनुष्यताकी पूजा करनी है। हम अपने सम्प्रदायमें दुनियाके सम्प्रदायोंको मिलाकर और अपनी जातिमें दुनियाकी जातियोंको मिलाकर एकता करना चाहें, तो यह नहीं हो सकता। अगर हम अपनी आँखोंमें धूल न झोंकना चाहें तो हमें यह जान लेना चाहिये कि इस विचारमें एकता, उदारता, समताकी मनोवृत्ति नहीं किन्तु दिग्विजयकी क्रूर मनोवृत्ति छुपी हुई है। अपने अपने जातीय और साम्प्रदायिक झंडेके नीचे दुनियाको बुलाने और खींच लानेका प्रयत्न तो सदासे होता आ रहा है। यह उदारता नहीं किन्तु वह रोग है जिसे हम दूर करना चाहते हैं। यदि मुट्ठीभर जैनी अपने झंडेके नीचे सबको पकड़ लानेकी मनोभावना रखते हैं, यद्यपि आज उनकी पाचन-शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई है, तो करोड़ों मुसलमानोंका यही दावा क्यों न हो? कमसे कम वे सबको अपनेमें पचा तो सकते हैं। बस, यही तो झगड़ेकी जड़ है। यहींसे तू तू मैं मैं शुरू होती है। हम समताकी दुहाई देते रणचंडीकी पूजा करने लगते हैं। ईश्वरका नाम लेकर शैतानको अर्घ चढ़ाते हैं और उसके इशारेपर नाचते हैं।

सत्यसमाज ऐसी जातीय और साम्प्रदायिक वासनाओंको कुचल देना चाहता है। वह सभी सम्प्रदायोंका आदर करते हुए भी किसी एक सम्प्रदायकी वकालत नहीं करना चाहता, न किसी एक सम्प्रदायको दूसरेके सिरपर बिठलाना चाहता है। वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म मोहपर अपनी कठोर दृष्टि रखना चाहता है। यहीं इसकी उपयोगिता है।

शङ्का (६)—नैष्ठिक सदस्यकी व्याख्या करते हुए यह दिग्दर्शित किया गया है कि 'जो लोग अपने सम्प्रदाय या समाजमें रहना नहीं चाहते या किसी कारणसे रह नहीं सकते, वे लोग वहाँसे सम्बन्ध तोड़कर इस समाजके नैष्ठिक सदस्य कहलायँगे।" समाजके त्यागका क्या अर्थ है ? क्या ओसवाल ओसवाल न रहेगा ? खण्डेलवाल खण्डेलवाल न रहेगा ? हाँ, वह जाति-पाँतिका पक्षपाती न होगा, न उसमें उसे आनन्द प्राप्त होगा, न एक ही जातिको—जिसमें उसका जन्म हुआ है—उसे महत्त्व देगा। लेकिन उस जातिमें तो उसकी गणना होगी न ?

समाधान—अगर किसीको ओसवाल आदिका पक्षपात नहीं है, उसमें आनन्द नहीं है, उसको वह महत्त्व भी नहीं देता, और दूसरी किसी भी जातिके साथ बेटी—व्यवहार करनेको तैयार है, तब उसका ओसवाल कहलाना विशेष महत्त्व नहीं रखता। एक मनुष्य साधु बन जानेपर ओसवाल कहलाता है, परन्तु वह स्वयं ओसवाल कहलानेकी कोशिश नहीं करता। दूसरे लोग उसे ओसवाल भले ही समझा करें। इस बातको मैं अपने ऊपर ही घटाकर स्पष्टीकरण कर देता हूँ।

कई लोग परवार समझकर मेरी प्रशंसा करते हैं, परन्तु मैं तुरन्त कह देता हूँ कि मैं अब अपनेको परवार-समाजका सदस्य नहीं समझता। अगर मुझे परवार-सभा एक सदस्यकी हैसियतसे निमन्त्रण दे, तो मैं उसे स्वीकार न करूँ। हाँ, किसी सलाहकारकी हैसियतसे या और किसी सेवाके लिये बुलावे, तो एक सेवकके रूपमें जाना आपत्तिजनक नहीं है। क्योंकि मैं ऐसी सेवकता किसी दूसरी जातिकी

भी स्वीकार कर सकता हूँ। अगर परवार-सभाका कोई आदमी मर्दुमशुमारी करने आवे, तो मैं उससे पूछूँगा कि तुम परवार जातिमें पैदा होनेवालोंके नाम लिख रहे हो या परवार जातिके सदस्योंके ? पहिली हैसियतसे तुम मेरा नाम लिख सकते हो; दूसरीसे नहीं। अगर कोई ऐसी संस्था हो जिसमें परवार-जातिके सिवाय दूसरी जातिका आदमी मेम्बर न बन सकता हो, तो मैं उसमें अपना नाम न जोडूँगा। अभी एक भाईका मुझे पत्र मिला जो कि मेरी स्तुतिसे रँगा हुआ था। इस तरहके कई पत्र मिलनेपर मुझे मालूम हुआ कि मैं परवार हूँ इसलिये यह आकर्षण है; तब मैंने उसे लिखा कि तुम यह आकर्षण बन्द कर दो। अगर तुम मुझे सत्यभक्त या समाज-सेवक समझकर चाहते हो तो ठीक, नहीं तो आकर्षण वापिस ले लेना चाहिये। नैष्ठिक सदस्य किस तरह अपनी जातीयताका त्याग करे, इसके ये थोड़ेसे नमूने हैं।

परन्तु इस सङ्कुचित जातीयताका त्याग करनेपर भी कौटुम्बिक सम्बन्ध और नातेदारीसे सम्बन्ध नहीं टूटता। नैष्ठिक सदस्य हो जानेपर भी उसके भाई-भतीजे, बहिन-बहिनोई, साले-ससुर आदि ज्यों-के त्यों बने रहेंगे। हाँ, वे लोग अगर इस तरहका सम्बन्ध न रखना चाहें तो बात दूसरी है। मेरा ध्येय इतना है कि कुटुम्ब और मनुष्यताके बीचमें जाति-पाँतिका जो निरर्थक पचड़ा पड़ा हुआ है वह नष्ट हो जाना चाहिये।

कोई पूछ सकता है कि जब हम ओसवाल ही न रहे, तब उसके सदस्योंके साथ हमारा सम्बन्ध कैसे रहेगा ? बस, इसी भ्रमको नष्ट करनेकी ज़रूरत है। हमें इन भेदोंको बिलकुल नाजायज़ ठहरा

देना है और कहना है कि हमारी तुम्हारी नातेदारी ओसवाल परवार आदिकी हैसियतसे नहीं किन्तु एक मनुष्यकी हैसियतसे है।

एक हिन्दू जब मुसलमान हो जाता है, उस समय वह अपनी हिन्दू जातिकी टुकड़ीको भूल जाता है। उसी तरह सत्यसमाजी (नैष्ठिक) को भी भूल जाना चाहिये। हाँ, भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे आवश्यकता होनेपर वह अपनी ओसवालताका ज़िकर कर सकता है। परन्तु मुसलमान होकर भूलनेमें और सत्यसमाजी होकर भूलनेमें थोड़ा अन्तर है। वह यही कि उसमें कौटुम्बिक सम्बन्ध भी विच्छिन्न कर देना पड़ता है; जब कि यहाँ नहीं होता। पुरानी समाजसे उसे द्वेष हो जाता है; जब कि यहाँ प्रेम और उचित सहयोग बना रहता है।

हाँ, मान लो कि ओसवाल जातिने यह नियम बना लिया कि वह किसी भी जातिके साथ सम्बन्ध करनेको तैयार है और निर्विरोध ऐसे सम्बन्ध होते भी हैं, तो ऐसी अवस्थामें ओसवाल आदि 'सरनेम' की तरह अपनाये जा सकते हैं। जैसे आगरकर, पुणेकर, नांदूरकर, वेलनकर आदि सरनेम हैं, उसी तरह ओसवाल भी बनें। वास्तवमें ओसवाल यह 'सरनेम' ही है। मराठीमें जिस अर्थमें 'कर' लगाया जाता है उसी अर्थमें हिन्दीमें 'वाला' या "वाल" लगाया जाता है। 'ओसिया-वाल' जो कि पीछेसे 'ओसवाल' हो गया, वास्तवमें 'ओसियाकर' की तरह सरनेम है। आज फिर उसको अपने उसी मूलरूपमें ले जाना चाहिये।

एक प्रश्न यह भी होगा कि इन जातियोंको सरनेम बनानेके लिये अपनेको उनका सदस्य क्यों न रक्खा जाय? बस, यहाँ पाक्षिक और

नैष्ठिकका भेद स्पष्ट होता है। यह काम पाक्षिकका है, नैष्ठिकका नहीं। नैष्ठिक बाहर रहकर ऐसी शक्ति तैयार करता है जिससे उस सङ्कुचित जातीयताका ध्वंस हो जाय। पाक्षिक भीतर रहकर यही काम करता है। जब तक ओसवाल आदि जातियाँ 'सरनेम' की तरह न मानी जाने लगें और उनका रूप भी ऐसा न बन जाय तब तक नैष्ठिक सदस्यको उनका सरनेमकी तरह भी उपयोग न करना चाहिये।

शङ्का (७)—नैष्ठिक सभासदके लिये स्वसमाज तथा स्वसम्प्रदायके त्यागकी आवश्यकता क्यों प्रतीत होती है ? उसकी पूर्ण निष्ठा सत्य और अहिंसापर हुई कि काम बना। क्या अपनी जातिमें या अपने सम्प्रदायमें रहकर मनुष्य, सत्यसमाजके सब नियमोंका (नैष्ठिकशाखाका) यथोचित पालन न कर सकेगा ?

समाधान—जब हम समझते हैं कि जातिके नामपर चलती हुई ये टुकड़ियाँ नाजायज हैं, तब भी जो उनका सूक्ष्म मोह भीतर बैठा है उसे पूर्ण नष्ट करनेके लिये नैष्ठिक सदस्य आवश्यक है। और इसकी व्यावहारिक उपयोगिता तो और भी अधिक है। मान लो सत्यसमाजमें नैष्ठिक भेद नहीं है, सभी पाक्षिक सरीखे हैं। अब एक आदमी ऐसा है जो जातिसे अलग कर दिया गया है। तब क्या वह ओसवाल पाक्षिक या परवार पाक्षिक बन सकता है ? फिर वह ओसवाल बने कि परवार, यह कठिनाई तो है ही। साथ ही अगर उसे इन टुकड़ियोंमें शामिल होना पसन्द न हो और न वह वैष्णव शैव आदि बनना चाहता हो तो वह कहाँ जाय ? मान लो कोई व्यभिचारजात हो—पंढरपुर सरीखे किसी आश्रममें जन्मा हुआ

बालक हो, या किसी घूरेपर पड़ा हुआ मिला हो—परन्तु हिन्दू ऋषियोंकी तरह ज्ञानी बन गया हो, बलवान् हो गया हो और वह सत्यसमाजका सदस्य बने तो उसे, किस समाजकी शाखाके आगे नाक रगड़ना चाहिये जिससे वे उसे अपनेमें मिला लें ? नैष्ठिक सदस्य न रहनेसे सत्य समाजका केन्द्र ही नष्ट हो जायगा। वहाँ साधारण स्थान ही न रह जायगा। जातिमदका बीज ज्योंका त्यों सुरक्षित रह जायगा। इतना ही नहीं, बल्कि पाक्षिकोंका बल टूट जायगा। अभी तो एक पाक्षिक सत्यसमाजके नियमोंका पूर्ण पालन करता है और उसे बल रहता है कि अगर मेरी जातिने और मेरे सम्प्रदायने मेरा बहिष्कार किया तो मैं नैष्ठिक बन जाऊँगा। इस बलसे समाजमें निर्भय होकर काम कर सकता है। परन्तु नैष्ठिक शाखा न होनेसे उसे यह बल न मिलेगा। वैष्णवसे निकलकर शैव या जैन बनना, ओसवालसे निकल कर परवार या अग्रवाल बनना बहुत कठिन है तथा अनुचित भी है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो जो लोग इस प्रकार बहिष्कृत हैं, व्यभिचारजात हैं, या अनार्य आदि श्रेणियोंके हैं, वे सब मिलकर अपना एक सामान्य वर्ग बना लें, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं वे नैष्ठिक क्यों बनें ?

ऐसा करनेपर सत्यसमाजके दो भेद तो हो ही गये। सिर्फ नाममें स्वर व्यञ्जनका अन्तर हुआ। ' नैष्ठिक 'की जगह ' सामान्य वर्ग ' या ऐसा ही कोई नाम रक्खा गया। परन्तु इससे ऐसी भयङ्कर हानि होगी जो सत्यसमाजकी जड़में कुठाराघात करेगी। वह सामान्यवर्ग बहिष्कृतों और पतितोंका कहलाने लगेगा, और जातिमदका नंगा नाच होने लगेगा। साथ ही, नैष्ठिक सदस्य सत्यसमाजका पालन तो करेंगे

पाक्षिकोंसे अधिक हीं, परन्तु उनका स्थान होगा नीचा। यह घोर अन्याय होगा। इसलिये नैष्टिकोंमें ऐसे लोगोंको पहिले ही आगे आना चाहिये जो वहिष्कृत नहीं हैं, व्यभिचारजात नहीं हैं, अनार्य आदि श्रेणियोंके नहीं हैं। उनके आनेसे नैष्ठिक श्रेणी गौरवहीन न होने पावेगी। अगर हम मानते हैं कि वर्तमानकी जातियोंके द्वारा वहिष्कृत होनेका कुछ मूल्य नहीं है, व्यभिचार पाप है परन्तु व्यभिचारजातता पाप नहीं है, दस्सा और विनैकया होना पाप नहीं है, किसी भी देश और किसी भी जातिमें जन्म लेना पाप नहीं है, धर्म और उच्चता, हाड़ और मांसकी वस्तु नहीं है, तव हमें उन सव लोगोंको छातीसे लगाना चाहिये; हमारे और उनके वीचमें जो दीवाल खड़ी है उसे गिरा देना चाहिये। सत्यसमाजके उद्देशोंमेंसे यह एक महान् उद्देश है। यदि हमारे हृदयमें अभी भी शुद्र्यशुद्धिका पुराना भ्रम मौजूद है, तो हमारी मनोवृत्ति सत्यसमाजीकी मनोवृत्ति नहीं है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो पाक्षिक श्रेणी क्यों वनाई? एक ही नैष्ठिक श्रेणी रखनी थी। परन्तु पाक्षिक श्रेणी वनानेका पहिला कारण तो यह है कि जिस प्रकार हमारे पास सम्प्रदायातीतता तथा जात्यतीतताका आदर्श वतलानेके लिये नैष्ठिक श्रेणी है, उसी प्रकार सव सम्प्रदायोंसे तथा समाजोंसे प्रेम वतलानेके लिये पाक्षिकश्रेणी है। यदि सभी नैष्ठिक हो जायँगे तो सत्यसमाजी और दूसरे लोगोंके वीचमें जो पुल है वह टूट जायगा। जाति और सम्प्रदायोंके भीतर रहकर सत्यसमाजके व्यावहारिक रूपको कार्यरूपमें परिणत करनेवाले मिट जायेंगे। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि पाक्षिक श्रेणी उन लोगोंके लिये है, जिनकी परिस्थिति एकदम

समाज छोड़नेकी नहीं है परन्तु समय आनेपर वे समाज छोड़ सकेंगे। ध्येय यह है कि लोग पहिले पाक्षिक सदस्य बनें किन्तु ज्यों ही उनकी झिझक निकल जाय, परिस्थिति अनुकूल हो जाय, मानका मोह निकल जाय त्यों ही नैष्ठिक बन जायँ। जो लोग एकदम नैष्ठिक बन सकते हैं वे और भी अच्छा करते हैं। जो लोग पहिलेसे पाक्षिक भी नहीं बन सकते हैं, वे अनुमोदक बनकर सत्य-समाजसे सम्बन्ध रख सकते हैं। इस प्रकार क्रमसे आगे बढ़नेका एक मार्ग तैयार कर दिया गया है। पाक्षिक और नैष्ठिकके अधिकारोंमें कोई भेद नहीं रक्खा गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि अनुचित अहंकारको स्थान न मिल जावे। दूसरी बात यह है कि आन्तरिक विश्वास और कार्यक्षेत्रके मुख्य मुख्य भागोंमें दोनों करीब एक सरीखे हैं।

समाजको त्यागे बिना सत्यसमाजके सब नियमोंका पालन हो सकता है, परन्तु उससे वह सत्यसमाजी कहलायगा। नैष्ठिककी जो विशेषता है, वह उसमें नहीं आ सकती।

शंका (८)—पिछले कतिपय उदाहरणोंसे देखनेमें आता है कि जिस समय समाजमें मूर्तिपूजाका प्रचार हुआ उस वक्त मूर्तिपूजा-योजकोंका यही हेतु था कि मूर्तियाँ सिर्फ़ रूपकमय रहें। लेकिन इस रूपकमय स्मारकमें कालके प्रभावसे परिवर्तन होकर अब मूर्तिपूजाने घर कर रक्खा है। अथवा उसका मूलभूत उद्देश एक तरफ़ रह गया है, और दूसरे ही रूपमें उसका पूजन होने लगा है। उसको केवल आलम्बनरूप अब कितने मानते हैं? इसी प्रकार अहिंसा और

सत्यकी आजकी रूपकमय मूर्तियाँ क्या कल वही रूप धारण न करेंगी? भावी प्रजा भगवान् सत्य और भगवती अहिंसाकी—यदि उनकी रूपकमय मूर्त्तियाँ आज स्थापित कर दी गई—द्रव्य पूजा ही करेगी। जिस उद्देशसे उनका प्रतिष्ठान आज होगा वह उद्देश क्या भावी कालमें भी रह सकेगा? इसलिये यह ठीक होगा कि ऐसी रूपकमय मूर्त्तियाँ न रक्खी जायँ। मूर्त्तियोंके अलावा उन सिद्धान्तोंके पोषक विविध तत्त्वोंसे पूरित बोधमय वचन उक्त मन्दिरोंमें लगाये जायँ तो क्या मूर्त्तियोंका हेतु उनसे सफल न होगा? खर्चा भी न होगा, तथा आजकी अनेक हिन्दू जैनोंकी मूर्त्तियोंमें इनकी और वृद्धि न होगी।

समाधान—इस शङ्कामें मूर्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले कई प्रश्न हैं। पहिला प्रश्न तो यही है कि मूर्त्ति रखना कि नहीं? दूसरा प्रश्न यह है कि रखना तो सत्य, अहिंसाकी रखना कि नहीं? विशेष व्यक्तियोंके लिये मूर्तिकी अनावश्यकता स्वीकार करते हुए भी मुझे यह कहना पड़ता है कि साधारण जनताके लिये मूर्त्ति आवश्यक है। जहाँ पूजा, भक्ति, स्तुति आदि है, वहाँ मूर्त्ति भी होनी चाहिये। हृदयके लिये एक आलम्बन चाहिये। जो लोग मूर्तिपूजक नहीं हैं वे भी आलम्बनके लिये मसजिद, प्रार्थनामन्दिर, स्थानक, आदि बनाते हैं। कावाका अमुक पत्थर, कब्र, ताज़िया आदि मूर्तियाँ हैं। जो हमारा आदर्श तथा आराध्य है उसका स्मरण करानेवाली कोई वस्तु आदरकी पात्र होती है, यह हृदयकी स्वाभाविक वृत्ति है और यही मूर्तिपूजा है। मूर्त्तिपूजाका दुरुपयोग हुआ है, और उसके विरोधका भी दुरुपयोग हुआ है। अन्धभक्तिमें कोई कम नहीं रहा। बल्कि मूर्त्ति-

पूजाके विरोधने मूर्तियोंको तोड़कर लोगोंका हृदय तोड़नेकी चेष्टा अधिक की है। खैर, यह विषय स्वतन्त्र है, इसके यहाँ कहनेकी जरूरत नहीं है। परन्तु मूर्त्तिपूजाके विरोधी और अविरोधी दोनोंको यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि मूर्त्तिपूजा मूर्त्तिकी पूजा नहीं है किन्तु मूर्त्तिके द्वारा पूजा है। मूर्त्ति तो सिर्फ़ उसका अवलम्बन है।

द्रव्य-पूजा और भाव-पूजाका अन्तर भी ध्यानमें रखना चाहिये। किसीके प्रति आदर बतलाना द्रव्य-पूजा है और उसका अनुकरण करना भाव-पूजा है। यह मुख्य है, फिर भी दोनों आवश्यक हैं। कोरी द्रव्य-पूजा केवल मूर्तियोंकी ही नहीं होती है परन्तु उन व्यक्तियोंकी तथा गुणोंकी भी होती है। सत्यके गीत गाना किन्तु उसका पालन न करना सत्यकी द्रव्य-पूजा है। मतलब यह कि द्रव्य-पूजा पर्याप्त नहीं है, पर बुरी नहीं है; साथ ही वह मूर्तिके बिना भी उतनी ही हो सकती है जितनी कि मूर्तिसे।

हाँ, अगर कोई सत्यसमाजी पाक्षिकका हृदय ऐसा हो कि वह मूर्तिका उपयोग न कर सकता हो, तो उसे इसके लिये विवश नहीं किया जा सकता। वह मूर्तिको लक्ष्यमें लेकर नहीं किन्तु अपने मनोमन्दिरके देवको लक्ष्यमें लेकर प्रार्थना कर सकता है। सत्यसमाज मन्दिरमें वह मूर्तिके सामने नहीं किन्तु बाजूमें खड़ा हो सकता है और मूर्तिको नहीं किन्तु किसी भी आसमानी या मानसिक अवलम्बनको—रूपको—प्रणाम कर सकता है। वह निराकार या साकार रूपमें जैसी कुछ कल्पना कर सके उसे प्रणाम कर सकता है। सत्यसमाज किसीके सिरपर मूर्तिपूजा नहीं लादना चाहता, किन्तु जिनको आवश्यकता है उनको सुविधा देना चाहता है, तथा सर्वधर्म-समभावका मूर्तिमंत रूप दुनियाँको

वताना चाहता है। वह सर्वसाधारणकी चीज़ वनना चाहता है। बुद्धि और मनका समन्वय करना चाहता है।

यह तो हुई सामान्य मूर्तिपूजाकी वात। अव दूसरा प्रश्न है रूपकमय मूर्तियोंका। इसमें एक वड़ी भारी आपत्ति यह हो सकती है कि रूपकोंको कालान्तरमें व्यक्तित्व मिल जाता है और वह भी झगड़ेकी चीज़ वन जाता है। यह ठीक है, परन्तु सत्यसमाजमें तो राम, कृष्ण, महावीर, वुद्ध आदि वास्तविक व्यक्तियों तकमें विरोध दूर किया गया है तव कल्पित व्यक्तित्वके साथ विरोध तो और भी कठिन है। अगर सत्य अहिंसाकी मूर्तियाँ न रक्खी जाँयगी तो वाकी मूर्त्तियाँ महापुरुषोंकी मूर्त्तियाँ न रहकर भगवानोंकी मूर्त्तियाँ वन जायँगी। परन्तु उपर्युक्त महापुरुषोंमें देवत्वका आरोप नहीं करना है। सत्य और अहिंसाके सेवकोंमें वे आदर्श रूप थे, श्रेष्ठ थे, वस इससे ऊँचा स्थान किसी भी वास्तविक व्यक्तिको नहीं देना है। सत्य और अहिंसाके अनुचर, दूत, आदि रूपमें ही उनकी पूजा करना है— इस भावको हम भूल न जावें, इसके लिए सत्य और अहिंसाकी मूर्त्ति अत्यावश्यक हैं।

गुणोंको जो व्यक्तित्व (Personification) दिया जा रहा है वह इसलिये कि उसके विना कोई साकार रूप मनमें लाया नहीं जासकता। भारत-माता नामकी कोई देवी न होनेपर भी हमें उसका चित्र आकर्षित करता है और एक कपड़ेको राष्ट्रध्वज कहकर हम मूर्ति-पूजक न हो करके भी सिर झुका देते हैं। यूनियन जैकके आगे मूर्त्तिपूजाका विरोधी प्रोटेस्टेन्ट अंग्रेज भी सिर झुका देता है। अमेरिका

सरीखे प्रोटेस्टैन्ट देशमें भी स्वतन्त्रता देवीकी मूर्ति बनाई जाती है। लक्ष्मी और सरस्वतीकी नारीमूर्त्तियाँ या नारीचित्र बनते ही हैं। इस प्रकार इनको व्यक्तित्व दिया जाकरके भी वास्तविक व्यक्तित्व प्राप्त नहीं होता। एक तो इनके नाम भी ऐसे प्रसिद्ध गुणवाचक हैं कि इनको वास्तविक व्यक्तित्व प्राप्त न होगा। उनकी रूपकताका लोगोंको खयाल रहेगा। दूसरी बात यह है कि पहिले सरीखा ज़माना आज नहीं है। पहिले जमानेमें शब्दोंको स्थिर रखनेका कोई उपाय नहीं था। शास्त्र या उपदेश श्रुति-स्मृति (सुनने और याद रखने) के रूपमें रहते थे। इसलिये बहुत ही जल्दी विकृत हो जाते थे। बल्कि दो चार पीढ़ियोंमें तो मूल शब्दोंका कहीं पता ही नहीं लगता था। आज साधन बढ़ गये हैं। 'अहिंसा और सत्य रूपक हैं, कोई व्यक्ति नहीं' इस वक्तव्यको पहिलेके समान विकृत नहीं किया जा सकता। सत्यसमाजके साहित्यमें इन बातोंका इतना अधिक और अनेक जगह स्पष्टीकरण किया जायगा कि चिरकाल तक वह तथ्य ज्योंका त्यों लोगोंके सामने रहेगा। अगर कदाचित् विकृत हुआ भी तो फिर कोई इस तथ्यका उद्धार करेगा। प्रागैतिहासिक कालमें जिन गुणोंको व्यक्तित्व प्राप्त हो गया है, और जिसने उन्हें रूपक बनाया था, उसके स्पष्ट वचन उपलब्ध नहीं हो रहे हैं फिर भी उनका वास्तविक रूप आज खोजा जा सकता है और खोजा जा रहा है। फिर आजके युगमें शब्दोंको स्थिर रखनेके अनेक प्रबल और अव्यर्थ साधनोंको रहते हुए पहिले तो तथ्यका लुप्त होना ही कठिन है; अगर हो भी जाय तो उसे ढूँढ़नेमें भविष्यके खोजियोंको जरा भी कठिनाई न होगी।

मूर्त्ति कुछ पत्थर और धातुकी ही नहीं होती, वह कागज़ और रंगकी, कपड़ेकी तथा अक्षरोंकी भी होती है। जहाँ किसी आकारमें आकर्षण हुआ कि मूर्त्ति हो गई। इसलिये वाक्योंको लिखकर टाँगना भी मूर्त्ति होगी। इस प्रकार हम मूर्त्ति तो रख ही लेंगे किन्तु आकर्षण कम कर लेंगे। इसके लिये तारनपंथका उदाहरण काफी होगा। तारनपंथी लोग मूर्त्तिविरोधी हैं, किन्तु अक्षर-पूजक हैं। इसलिये वे वेदीपर पुस्तक विराजमान करते हैं, उसकी पालकी निकालते हैं, पूजा करते हैं, प्रसाद बाँटते हैं। वे मूर्त्तिको पत्थर कहकर ठुकरा देते हैं, परन्तु पोथीको कागज कहकर नहीं ठुकराते। इसी प्रकार बोधमय वचनोंकी बात है। उनका लगाना अनुचित न होकरके भी वे मूर्त्तियोंकी आवश्यकताको दूर नहीं करते।

मूर्त्ति-वृद्धिकी चिन्ता न करनी चाहिये। चिन्ताका विषय है उनमें द्वेषवृद्धि। आज जगत्में हजारों तरहकी मूर्त्तियाँ हैं और उनको लेकर मनुष्यमें जितनी द्वेषवृत्ति है उतनी उस समय भी हो सकती थी जब कि संसारमें हजारोंके बदले सिर्फ दो ही तरहकी मूर्त्तियाँ होतीं। द्वेष, मूर्त्तियोंकी विविधताके बहुत्वपर नहीं, किन्तु अनुदारता तथा मूढ़तापर निर्भर है। फिर ये मूर्त्तियाँ तो अन्य मूर्त्तियोंमें समन्वय करनेवाली हैं, इसलिये औषधकी तरह उपादेय हैं।

अब रह गया अधिक खर्चका प्रश्न, सो यह समस्या कठिन नहीं है। मूर्त्ति पत्थरकी न मिले तो मिट्टीकी सही, लकड़ीकी सही, अथवा चित्र ही काफी है। प्रचार हो जानेपर दो दो चार चार आनेमें अच्छेसे अच्छे चित्र मिलने लगेंगे। प्रारम्भमें जब तक इतने साधन नहीं हैं तब तक कागज पर 'भगवान् सत्य' 'भगवती अहिंसा'

आदि लिखकर टाँगा जा सकता है। यह सब सुविधा आजके लिये ही नहीं है, किन्तु सदाके लिये है। जिसकी जैसी रुचि हो, जैसे साधन हों, वैसा ही कर लेना चाहिये।

शंका—(९)—नैष्ठिकोंका एक मन्दिर, विविधपाक्षिकोंके विविध मन्दिर ऐसे एक ही स्थानपर कितने मन्दिर हो जायँगे? इनका खर्च कैसे चलेगा? और एक ही सत्यसमाजमें इतने विविध मन्दिर हों, यह बात दिलको ठीक नहीं लगती।

समाधान—जब हमें विविध सम्प्रदायोंका समन्वय ठीक लगता है, तब विविध मन्दिरोंका समन्वय भी ठीक लगेगा। परन्तु विविध मन्दिरोंका समन्वय करना है, रचना नहीं। रचना तो सिर्फ़ एक नैष्ठिक मन्दिरकी करना है। परन्तु आज भारतमें जो हजारोंकी संख्यामें मन्दिर बने हैं, उनका समन्वय करनेका ध्येय अवश्य है। उनके वर्तमान रूपको रखना भी नहीं है और उन्हें नष्ट भी नहीं करना है। इसके लिये पाक्षिक मन्दिरकी कल्पना की गई है। जैसे एक हिन्दू मन्दिरमें विष्णु-मूर्ति होनेपर विविध कोनों या स्थानोंपर शिव, गणेश, हनुमान आदिकी मूर्त्तियाँ रहती हैं, बस इसी नीतिका कुछ व्यापक और व्यवस्थित रूप पाक्षिक मन्दिर है। जहाँ मन्दिरकी आवश्यकता हो, वहाँ प्रत्येक सत्यसमाजीको—चाहे वह पाक्षिक हो या नैष्ठिक—नैष्ठिक मन्दिर ही बनाना चाहिये। परन्तु अगर उसके हाथमें पहिलेसे ही कोई साम्प्रदायिक मन्दिर हो और उसका नैष्ठिक मन्दिरमें परिवर्तन करना कठिन हो तो उसे पाक्षिक मन्दिरका रूप दे देना चाहिये। अथवा अपनी सामाजिक या अन्य किसी परिस्थितिके

अनुसार कभी अपने सम्प्रदायका ही मन्दिर बनवाना अनिवार्य हो तो उसको उसे अपने सम्प्रदायका पाक्षिक मन्दिर बनवाना चाहिये। मतलब यह कि पाक्षिक मन्दिरकी कल्पना तो वर्तमान मन्दिरोंके सुधारनेके लिये तथा पक्षपातवाले मन्दिरोंके रोकनेके लिये है।

पाक्षिक मन्दिरोंके खर्चका सवाल तो आता ही नहीं है, क्योंकि उनका खर्च जैसा पहिले चलता था वैसा चलता रहेगा। बल्कि सत्यसमाजकी छाप लगानेसे द्रव्यपूजाका खर्चीला रूप शून्यप्राय कर देनेकी प्रेरणा मिलेगी। नये पाक्षिक मन्दिर बनवानेकी तो जरूरत ही नहीं है, फिर भी कोई बनवाये तो उसका प्रबन्ध उसपर है, सत्य-समाजपर नहीं। नैष्ठिक मन्दिरका खर्च कुछ है ही नहीं, क्योंकि उसमें फल फूल नैवेद्य चढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है। सफाईका काम तो सदस्य अपने हाथसे कर लेंगे। हाँ, सत्यसमाजके साहित्यकी छोटीसी एक लाइब्रेरी उसमें अवश्य होगी। इस प्रकार सत्य-समाजका मन्दिर मन्दिर भी है, प्रार्थनालय भी है, स्वाध्यायशाला या वाचनालय भी है, व्याख्यान-भवन भी है, और सदस्योंका मिलन-मन्दिर भी है। उसमें विशेष खर्चकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शंका (१०)—जन-गणनाका समय जब आवेगा तब उसमें धर्म सत्यसमाज, और जाति सत्यसमाज ऐसा लिखवाना चाहिये न? लेकिन अधिकारी तो यही कहेंगे कि हम सत्यसमाज नहीं जानते; हमें हिन्दू-ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र आदि ऐसा कुछ कहो या जैन-वैदिक मुसलमान क्रिश्चियन ऐसा कुछ कहो। तब क्या करना चाहिये?

समाधान—पाक्षिक तो उपर्युक्त ढंगसे भेद लिखवा ही सकता है। सिर्फ धर्मके खानेमें उसे सत्यसमाजी विशेषण और लगवाना

चाहिये। जैसे आज लोग श्वेताम्बर जैन, दिगम्बर जैन आदि कहते हैं उसी प्रकार सत्यसमाजी जैन, सत्यसमाजी बौद्ध आदि लिखवाना चाहिये। परंतु नैष्ठिकको तो दोनों ही खानोंमें सत्यसमाजी ही लिखवाना चाहिये। आवश्यकता होनेपर इस नामकी रजिस्ट्री करा ली जायगी या और कोई उपाय किया जायगा।

शंका (११)—रामराम, जयगोपाल, जयजिनेन्द्र, सलाम आदि जो धर्मसूचक नमस्कारवाचक शब्द हैं उनकी जगह सत्यसमाजका भी कुछ नमस्कार-वचन है ? या वन्देमातरम् आदि या सबमेंसे कोई भी ? क्योंकि सत्यसमाजका सदस्य तो निःपक्ष रहेगा, उसके लिये तो सभी तत्वतः ग्राह्य हैं।

समाधान—शिष्टाचारके जो शब्द सिर्फ़ हृदयकी भावनाको बतलाते हैं जैसे कि—प्रणाम, नमस्कार, सलाम, आशीर्वाद, वन्दना, आदि उनके विषयमें कोई विचार नहीं। उनका इच्छा और औचित्यके अनुसार जहाँ चाहे प्रयोग किया जा सकता है। बाकी शब्दोंके लिये दो बातें है। एक तो जब सत्यसमाजी आपसमें व्यवहार करें तब; दूसरे जब अन्य लोगोंसे व्यवहार किया जाय तब।

सत्यसमाजके लिये भी एक ऐसे शब्दकी आवश्यकता तो है। सत्यसमाजपर प्रकाशित होनेवाली सम्मतियोंमें बहुतसे सज्जनोंने 'जय सत्य देवकी' 'सत्य भगवानकी जय' 'सत्यम् वन्दे' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। परन्तु रामराम, जयजिनेन्द्र आदि शब्दोंका बहिष्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इससे एक तरहकी कट्टरता साबित होगी। इसलिये एक शब्द बना करके भी अन्योंका समन्वय करना जरूरी है।

सत्यका स्थान सर्वोच्च है, इसलिये सत्यकी जयको बतलानेवाला कोई शब्द रखना अच्छा होगा। सत्यं वन्दे, वन्दे सत्यम्, सत्यं जयतु, सत्यं विजयते तराम् आदि शब्दोंका जिनको प्रयोग करना हो वे कर सकते हैं, परन्तु सरल और सुविधाजनक शब्द 'जय सत्य' है। सत्यसमाजी आपसमें जहाँतक बने इसी शब्दका प्रयोग करें। परन्तु जब ऐसे लोगोंके साथ व्यवहार करना हो जो सत्यसमाजी नहीं हैं, तब उनके साथ वही शब्द बोलना चाहिये जो उनने बोला है— रामरामके उत्तरमें रामराम, जयजिनेन्द्रके उत्तरमें जयजिनेन्द्र। अगर अपनेको ही पहिले बोलना हो तो 'जय सत्य' बोलना ही उचित है। चिट्ठी पत्रीमें भी जहाँतक हो 'जय सत्य' लिखना चाहिये। लिखनेमें इस बातका इतना विचार नहीं किया जा सकता कि उसने क्या लिखा है।

अवसरके अनुसार वन्देमातरम् आदिका भी प्रयोग किया जा सकता है। कट्टरता या द्वेषवृत्ति कहीं भी न आना चाहिये।

शंका (१२)—सत्यसमाज सदस्यके लिये वार्षिक चन्दा कुछ कारणसे ही न रक्खा गया होगा। खर्चा सारा कौन करेगा? मन्दिर खोलनेमें मकानादि किरायेसे लेना होंगे। ग्रामस्थ सदस्य उस खर्चेकी व्यवस्था करें, ऐसा ही न?

समाधान—सत्यसमाज एक समाज है। वह कोई सभा या मण्डल नहीं है कि चन्दा न देनेसे उस सदस्यका नाम काट दिया जाय। सत्यसमाजी रहना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। पैसा न दे सकनेसे वह छिन नहीं सकता। इसलिये चन्देकी शर्त नहीं डाली जा सकती। परन्तु चन्देकी शर्त न डालना एक बात है, और चन्दा

न करना दूसरी बात है। शर्त नहीं डाली जा सकती, परन्तु चन्दा किया जा सकता है। सत्यसमाजके प्रत्येक सदस्यको अपनी शक्तिके अनुसार कुछ न कुछ आर्थिक सहायता अवश्य करनी चाहिये। प्रत्येक शाखाको अपनी परिस्थितिके अनुसार अपने यहाँके सदस्योंसे चन्दा लेना चाहिये। उससे मन्दिरका कार्य, मन्दिरके वाचनालयकी व्यवस्था, व्याख्यान आदिका प्रबन्ध, तथा अन्य ढंगोंसे सत्यसमाजका प्रचार, वात्सल्य प्रचारके लिये सहभोजकी व्यवस्था आदि करना चाहिये। मन्दिरके लिये अभी मकान किरायेसे लिया जा सकता है। उसमें स्वाध्यायके लिये कुछ साहित्य जरूर रहे तथा 'सत्यसन्देश' पत्र भी अवश्य पहुँचे। कुछ दिन बाद सत्यसमाजका बहुतसा साहित्य हो जायगा। उस सबका संग्रह मन्दिरमें अवश्य रहे।

जैनसम्प्रदायके एक महानुभावने समभावमूलक सत्यसमाज मंदिरकी बातको अव्यवहार्य तथा असंगत बताया था। उनकी शंकाका सार यह है।

शंका (१३)—मंदिरमें किसी एक धर्मके देवको उच्च स्थान देना और बाकीको नीचा, यह ठीक नहीं है। इससे दूसरोंका अपमान होगा। और सबको बराबर स्थान दिया जाय यह भी ठीक नहीं जँचता। अहिंसाके आदर्श श्रीमहावीरके साथ कालिका देवीको विराजित किया जावे—जिसके सामने उसके भक्त पशु-बलि करके धर्म मानते हैं—अथवा गृहस्थयोग्य राधा-कृष्णको स्थापित किया जावे जहाँ सांसारिक शृङ्गारका दृश्य है या शिवलिंगकी स्थापना हो, यह संयोग कुछ जुड़ता नहीं। धर्मगुरु ऐसा न होने देंगे।

समाधान—सत्यसमाज मंदिरमें तो सत्य और अहिंसाको ही

सर्वोच्च स्थान दिया जासकता है, किसी व्यक्तिविशेषको नहीं। हाँ, पाक्षिक मंदिरोंमें अवश्य ही अपने इष्टकी मूर्ति मुख्यस्थानपर होगी। ये पाक्षिक मंदिर सत्यसमाजके आदर्शमंदिर नहीं हैं किन्तु उस आदर्शकी तरफ जानेके लिए साम्प्रदायिक मंदिरोंका सम्भव-सुधार है। वहाँ एककी मुख्यतासे भी किसीका अपमान नहीं है।

यहाँ तो 'जिसका विवाह उसका गीत' वाली कहावत है। अमुक स्थान या समयपर दूल्हाको मुख्य स्थान देनेपर भी दूल्हा अपने सभी कुटुम्बियोंसे बड़ा नहीं हो जाता। एक अखाड़ेमें हनुमानकी मूर्ति मुख्य स्थानपर हो और हनुमानके भी पूज्यकी मूर्ति गौण स्थानपर, तो इससे उसका अपमान नहीं है। गणेशके मन्दिरमें उनके माता-पिता शिव और पार्वती एक किनारे रहें तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। हम अपने घरमें अपने बापके चित्रको इतने आदरसे रक्खें जितने कि बड़े बड़े नेताओंके चित्रको न रक्खें तो इससे हमारा बाप हमारी दृष्टिमें भी उन नेताओंसे बड़ा नहीं हो जाता। इससे सम्बन्धकी निकटता ही मालूम होती है, व्यक्तित्वकी महत्ता नहीं। इससे नेताओंका अपमान करनेकी भावना भी द्योतित नहीं होती। एक जैनमंदिरमें राम कृष्णके चित्र दीवालोंपर टँगे हों इसी प्रकार राम, कृष्णके मंदिरमें महावीर, बुद्धके चित्र टँगे हों तो इससे हमारा आदरभाव ही द्योतित होगा न कि अनादरभाव। सत्यसमाजी उन सबको समान भावसे ही मानता है, परन्तु सामाजिक परिस्थितिके कारण तथा संस्कारोंने जो अमुक महात्मासे घनिष्ठता पैदा कर दी है उससे वह पाक्षिक बना है। भले ही धर्मगुरुओंको वह मान्य न हो परन्तु सत्यसमाजीको उन धर्मगुरुओंकी मान्यता-

अमान्यताकी पर्वाह नहीं होती। वह किसी भी शास्त्र, गुरु या विद्वानको वहीं तक मानेगा जहाँ तक उसके सर्वधर्म-समभाव और सत्य-पूजामें बाधा न आवे। किसी भी सम्प्रदायके शास्त्र और गुरु उसके लिए बन्धनरूप नहीं हैं।

कालिकादेवीको विराजित करनेकी बात लिखनेमें भ्रम हुआ है, क्योंकि उसमें सत्य और अहिंसाकी ही मूर्तियाँ हैं—काली शिव आदिकी नहीं; क्योंकि इनकी गणना राम-कृष्ण आदिके समान ऐतिहासिक महात्माओंमें नहीं हैं। वास्तवमें शिव और शक्तिकी मूर्त्तियाँ तो सत्य और अहिंसाके समान गुणोंकी रूपकमय मूर्त्तियाँ ही हैं, इसलिये शिव और शक्तिका समावेश सत्य और अहिंसामें हो जाता है उनके लिये अलग मूर्त्तियाँ बनानेकी ज़रूरत नहीं है।

शक्तिका जो भयङ्कर रूप है वह कई हज़ार वर्ष पहिले लोगोंकी जो मनोवृत्ति थी उसकी अपेक्षा ठीक है। साधारण लोग शक्तिकी कल्पना ऐसी ही करते हैं। जैनियोंने भी ऐसी ही कल्पना की है। उनके चेतन-चरित्र नाटकमें जब मोहके कटकसे और ज्ञानके कटकसे तोप-गोले चलते हैं तब वह दृश्य कालिकाके दृश्यसे कुछ विशेष अन्तर नहीं रखता। यद्यपि जैनियोंने कागजपर तदाकार चित्र नहीं बनाये, किन्तु अतदाकार शब्द-चित्र तो बनाये हैं। भावनाओंमें तो कुछ अन्तर नहीं है। " तोरी उत्तम क्षमापै मोय आवे अचम्भो कैसे किये कर्म चकचूर। " गानेवाला जैनी जब चकचूरका चित्र अपने मनमें खींचता है तब उसे कालिकाकी लपलपाती जीभ न सही, किन्तु अनाजको पीसकर चकचूर कर डालनेवाला चक्कीका पाट तो याद आता ही है। पिंडस्थध्यानमें ह्रींकारके रेफसे

निकली हुई ज्वालाएँ जब ब्रह्माण्डमें फैलकर सब कर्मोको जला डालती हैं तब उनका मानसिक चित्र कुछ कम भयङ्कर नहीं होता। साधारण जनताके आकर्षण और स्थिरताके लिए उसी मानसिक चित्रको मूर्त्तिका रूप दिया जाता है।

जैनी भी तो आखिर शाक्त अर्थात् शक्तिके उपासक हैं। मोक्षके लिये वज्रर्षभनाराच संहननको अनिवार्य बतलानेवाले, शक्तिके उपासक नहीं तो क्या हैं? अनन्त चतुष्टयमें अनन्त वीर्य (शक्ति) की गिनती करनेवाले और वीर्यान्तरायके क्षयक्षयोपशमके के बिना ज्ञानावरणका भी क्षय क्षयोपशम न माननेवाले, शक्तिकी उपासना करनेवाले नहीं तो क्या हैं? तीर्थङ्करके अङ्गुष्ठमें अगणित इन्द्रों बराबर शक्ति माननेवाले अगर शक्तिके पूजक नहीं तो क्या हैं? सारा संसार शक्तिपूजक है। शक्तिकी हमें जरूरत है, इसलिये हमें उसकी पूजा करना चाहिये। हाँ, पुरानी भावना बदलना चाहिये। उसके आगे पशुओंके बलिदानकी जरूरत नहीं है, मुंडमाला नहीं चाहिये, उसका रूप इतना भयङ्कर भी नहीं बनाना चाहिये। फिर भी उसका रूपक एक वीराङ्गनाके समान तो होगा। शक्तिका स्थान भगवान् सत्य और भगवती अहिंसाके दरबारमें सैन्याध्यक्षाका स्थान है। इसलिये सत्य और अहिंसाकी आज्ञामें रहकर उसको अपना काम करना चाहिये। हम सशक्त बनें और अपनी शक्तिका उपयोग अहिंसा और सत्यके लिये करें, यही हमारी शक्तिपूजा है। यह सब विचारधारा सत्यसमाजियोंको, खासकर शाक्त सत्यसमाजियोंको, समझाई जायगी और मद्यमांसके त्यागकी प्रेरणा की जायगी। तब जो लोग ऐसे शाक्त बनेंगे उन्हें सत्यसमाजी शाक्तोंमें शामिल किया जायगा।

जो केवल निवृत्त्येकान्तवादी हैं उनको यह देवपरिषत् आश्चर्य-जनक तथा असंगत भले ही माल्रूम हो, परन्तु जिनने जीवनके दोनों पहलुओंको समझा है और उसपर सर्वतोमुख विचार किया है, उन्हें राम-कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि एक ही वस्तुके अनेक पहल्रू माल्रूम होंगे।

इतनी शंकाओंके समाधानसे सत्यसमाजके विषयमें पर्याप्त परिचय मिल जाता है। बहुतसे लोग सत्यसमाजके सिद्धान्तके प्रश्नोंमें अनेक दार्शनिक प्रश्न रख देते हैं। परन्तु मैं पहिले कह चुका हूँ कि धर्मके विचारमें दर्शन, न्याय, भूगोल, खगोल, इतिहास आदिके प्रश्न लाना और उनको धर्म-मीमांसाकी कसौटी बनाना अनुचित है। मेरे इस विषयमें विचार हैं परन्तु सत्यसमाजसे उनका कोई खास सम्बन्ध नहीं है।

प्रत्येक धर्मकी यदि उदार व्याख्या की जाय तो वह सार्व धर्म बन सकता है और कट्टरताके रूपमें कोई भी धर्म सार्वधर्म नहीं बन सकता। सार्वधर्मके लिए अगर हम कोई नया धर्म बनावें और प्रचलित धर्मोंको नष्ट कर देना चाहें, तो हमें सफलता न मिलेगी। इसके लिए यही उचित है कि सब धर्मोंका समन्वय करके हम एक सर्व-धर्म-समभावी समाजकी रचना करें जो सर्वधर्म-समभावको कार्यपरिणत करके दिखावे। यही सर्वधर्म-समभाव सार्वधर्मका रूप हो सकता है।

सत्य-सन्देश

(सर्व-धर्म-समभावी पाक्षिक पत्र)

सम्पादक—साहित्यरत्न, पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ

संस्थापक—सत्यसमाज

यदि आप हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि सभी पवित्र धर्मोंका मर्म जानना चाहते हों, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महात्माओंका जीवन-रहस्य और उनकी लोकोपकारकताका दर्शन करना चाहते हों. सर्व-धर्म-समभाव और समाज-सुधारके प्रत्येक पहलूपर गम्भीर विचार करके उन्हें जीवनमें उतारना चाहते हों, तो सत्य-सन्देशके ग्राहक अवश्य बनिये। यह हर पन्द्रहवें दिन आपको सुन्दर लेख, कविताएँ, टिप्पणियाँ, समाचार और कहानियाँ सुनायगा।

किसी भी सम्प्रदायकी निन्दा न करके सब धर्मोंका समन्वय करना और सभी समाजोंमें प्रेम और भ्रातृत्व बढ़ाकर समाज-सुधारके प्रत्येक आन्दोलनको चलाना, इसका मुख्य उद्देश है। विवेचनका मौलिक ढङ्ग, गम्भीर विचारणा आदिका रसास्वाद आप इसके पढ़नेसे ही कर सकेंगे। बड़े बड़े विद्वानोंने लेखोंकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है।

वार्षिक मूल्य सिर्फ ३ रुपया। आज ही ग्राहक बनिये।

फतहचंद सेठी

प्रकाशक—सत्यसन्देश, सरावगी मोहल्ला, अजमेर, C. I.